देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला—८

मौर्य्यकालीन भारत

लेखक

कमलापति तिवारी शास्त्री

संपादक

रामप्रसाद त्रिपाठी एम० ए०, डी० एस-सी०

काशी नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

पहला संस्करण] १९२८ [मूल्य २)

दो शब्द

मेरा यह प्रथम प्रयास है। इस पुस्तक के लिखने का उद्देश्य भारत की प्राचीन आर्य सभ्यता और उसकी महत्ता पर प्रकाश डालना है। मौर्य साम्राज्य के उत्थान के समय तथा मौर्यों के राज्यकाल में भारत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा क्या थी, इस देश के लोग ईसा से ३०० वर्ष पूर्व किस प्रकार अपना कार्य संचालन करते थे और आर्य सभ्यता किस श्रेणी तक पहुँची थी, इसका संक्षेप में दिग्दर्शन कराना ही इस पुस्तक का उद्देश्य है।

भारत की प्राचीन आर्य सभ्यता की महत्ता मानते हुए भी पाश्चात्य विद्वानों ने, जान में अथवा अनजान में, यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि यह पुरानी किंतु उन्नत अवस्था पर पहुँची हुई सभ्यता न तो स्वतंत्र रूप से भारत में उत्पन्न हुई, फली-फूली और न इतनी प्राचीन ही है जितनी कि समझी जाती है। संभव है, पश्चिम के विद्वानों के मस्तिष्क में यह विचार स्थान ही न पा सकता हो कि पूर्व के किसी देश में इतनी प्राचीन तथा श्रेष्ठ सभ्यता का जन्म किसी काल में हुआ होगा। इसी कारण वे यह सिद्ध कर दिखलाने की चेष्टा करते हैं कि

भारतवर्ष में जिस सभ्यता का विकास हुआ, वह यवनों तथा अरबों से भारतीयों ने सीखी और उसके विकास का काल ईसा की कई शताब्दियों के बाद ही होगा।

जो हो; परंतु मेरा जहाँ तक विश्वास है और अपनी बुद्धि के अनुसार जहाँ तक मैंने समझा है, मुझे यही ठीक ज्ञात होता है कि इस सिद्धांत में कुछ सत्य का अंश होते हुए भी अधिकांश में पक्षपात भरा है।

इस पुस्तक में मैंने पूर्वीय विद्वानों के मत का अधिक आश्रय लिया है और पाश्चात्य विद्वानों के उपर्युक्त मत का खंडन किया है। मेरा यह कहना नहीं है कि जो मत मुझे मान्य हैं, वे ही सबको मान्य होंगे। भारतीय इतिहास के विषय अभी अत्यंत विवादास्पद हैं। उनमें मतभेद होना स्वाभाविक है।

यह पुस्तक न तो भारतीय इतिहास पर कोई गवेषणा-पूर्ण विवेचन है और न इसमें कोई काल्पनिक चित्र ही खींचा गया है। मौर्यकालीन भारत की स्थिति पर जितनी पुस्तकें प्राप्य हैं, उन्हीं के आधार पर यह ग्रंथ रचा गया है।

इन कुछ शब्दों के साथ अब मैं डा० रामप्रसादजी त्रिपाठी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। डाक्टर साहब ने अपना अमूल्य समय लगाकर बड़े परिश्रम के साथ इस पुस्तक का संपादन किया है। यद्यपि भारतीय इतिहास के विवाद-रहित न होने के कारण कहीं कहीं उनका मुझसे मत-भेद है, परंतु जिस

प्रकार उन्होंने ग्रंथ का संपादन कर मेरा उत्साह बढ़ाया है, उसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

अंत में मैं पाठकों से यह निवेदन करता हूँ कि भारतीय इतिहास जैसे जटिल विषय और मेरा प्रथम प्रयास होने के कारण इस पुस्तक में अशुद्धियों का रह जाना बहुत संभव है। ऐसी अवस्था में पाठकवृंद उदारतापूर्वक मुझे क्षमा करेंगे।

विनीत

लेखक।

भूमिका

इस पुस्तक की भूमिका लिखते हुए मुझको बड़ी प्रसन्नता होती है। श्रीकमलापति त्रिपाठी चार वर्ष तक मेरे विद्यार्थी रह चुके हैं। आपने काशी विद्यापीठ में रहकर इतिहास, अर्थशास्त्र तथा राजशास्त्र का अच्छा अध्ययन किया है। आप हिंदी के होनहार लेखक हैं। यह आपका प्रथम प्रयास है। आशा है कि आप इतिहास के और ग्रंथ भी लिखकर हिंदी-साहित्य के एक आवश्यक अंग को पुष्ट करने में सहायक होंगे। हिंदी-साहित्य में ऐतिहासिक पुस्तकों का एक प्रकार से अभाव है। जो थोड़ी बहुत पुस्तकें इतिहास पर इधर निकली हैं, वह उँगली पर गिनी जा सकती हैं।

खेद है कि अपने देश का कोई प्रामाणिक इतिहास किसी भारतीय भाषा में नहीं निकला है। यदि भारतीय विद्वान् परस्पर सहयोग करें तो एक विस्तृत इतिहास (Cambridge History of India के ढंग का) देशी भाषाओं में लिखा जा सकता है। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने हिंदी में एक अच्छा इतिहास लिखाने का निश्चय किया था, पर अभी तक इस कार्य का आरंभ नहीं हो सका है। जब तक ऐसा सुयोग नहीं आता, तब तक भारतीय इतिहास के भिन्न भिन्न परिच्छेदों पर स्वतंत्र पुस्तकें लिखा जाना ही संभव है।

भारत के प्राचीन इतिहास के लिखने का कार्य सुगम नहीं है। कई जटिल समस्याएं हैं। कई बातें तो अंधकार से ऐसी आच्छन्न हैं कि उनके बारे में यह आशा ही नहीं होती कि कभी उन पर प्रकाश पड़ेगा। इतिहास की सामग्री भी पर्याप्त नहीं है। कुछ विषय ऐसे विवादग्रस्त हैं कि साधारण कोटि के विद्वानों के लिये कुछ निश्चय करना भी कठिन हो जाता है।

उदाहरण के लिये कौटिल्य अर्थशास्त्र के संबंध में ही बड़ा विवाद चल रहा है। एक ओर डाक्टर जोली (Dr. Jolly) का मत है कि इस ग्रंथ की रचना तीसरी शताब्दी (ईसा के बाद) में हुई और दक्षिण के किसी पंडित ने कौटिल्य के नाम से इस ग्रंथ को प्रसिद्ध किया। अध्यापक विंटरनिट्ज (Winternitz) ने भी अपनी History of Indian Literature नामक पुस्तक में अर्थशास्त्र का रचना-काल तीसरी शताब्दी ही माना है। डाक्टर स्टायन (D. Stein) ने अपने Megasthenes and Kautilya नामक ग्रंथ में तुलनात्मक दृष्टि से इन दोनों पुस्तकों की विवेचना की है; और उनका यह निश्चय है कि दोनों के वर्णनों में समानता कम और असमानता अधिक पाई जाती है। इसलिये उनका कहना है कि यह दोनों ग्रंथ एक समय के लिखे हुए नहीं मालूम पड़ते। दूसरी ओर डाक्टर विंसेंट स्मिथ तथा श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल इस मत का खंडन करते हैं और वह अर्थशास्त्र को चंद्रगुप्त मौर्य के

ग्रंथों चाणक्य का लिखा हुआ मानते हैं। यदि डाक्टर जोली की बात मान ली जाय तो मौर्य काल का इतिहास लिखने में अर्थशास्त्र की सहायता नहीं ली जा सकती। डाक्टर जोली मेगास्थनीज के वर्णन को भी बहुत प्रामाणिक नहीं मानते। उनका कहना है कि मेगास्थनीज ने अपने देशवासियों के सम्मुख भारतीय समाज का एक कल्पित चित्र रखा था। भारतीयों के चरित्र तथा रहन सहन का जो वर्णन उसने किया है, उसको जोली महाशय कई स्थलों में वस्तुस्थिति के विपरीत बतलाते हैं। इनके मत के अनुसार तो चंद्रगुप्त मौर्य का इतिहास लिखने का कोई अच्छा साधन हमारे पास रह ही नहीं जाता।

ऐसी अवस्था में लेखक का कार्य और भी कठिन हो जाता है। लेखक का यह दावा नहीं है कि उन्होंने मौर्य काल के इतिहास की सारी सामग्री का अच्छी तरह अध्ययन कर अपना कोई स्वतंत्र मत स्थिर किया है। लेखक ने मौर्य काल के इतिहास से संबंध रखनेवाली अँगरेज़ी पुस्तकों के आधार पर ही यह पुस्तक लिखी है। विविध प्रश्नों पर जो मत प्रचलित हैं, उनमें से जो लेखक को ठीक जँचा, उसी मत का उल्लेख उन्होंने किया है। इसमें संदेह नहीं कि परिशिष्ट में अर्थशास्त्र संबंधी विवाद का सारांश दिया गया है, पर अधिक अच्छा होता यदि पुस्तक में भी इस विवाद का संक्षेप में उल्लेख कर दिया गया होता। इसी प्रकार अन्य विवादग्रस्त विषयों का

भी उल्लेख पुस्तक में होना चाहिए था। इस कमी को संपादक महाशय की टिप्पणियों ने बहुत कुछ पूरा किया है। भिन्न भिन्न विद्वानों के मत न देने के कारण तथा उनकी समालोचना न करने के कारण लेखक की शैली के संबंध में भी आपत्ति हो सकती है। यह कहा जा सकता है कि लेखक ने किसी खास उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी है और वह उद्देश्य प्राचीन भारत का गौरव बढ़ाना है। उपसंहार के अंतिम कतिपय वाक्य इस धारणा को पुष्ट करते हैं। अच्छा होता यदि लेखक आदि से अंत तक शुद्ध ऐतिहासिक शैली का ही प्रयोग करते।

इन दोषों के होते हुए भी हम कह सकते हैं कि पुस्तक अच्छी लिखी गई है। हिंदी भाषा में मौर्य काल के इतिहास पर यह पहिली ही पुस्तक है। इस पुस्तक में राजनीतिक इतिहास के साथ साथ धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का भी अच्छा वर्णन उपलब्ध है।

पुस्तक के अंत में दो परिशिष्ट दिए गए हैं। एक परिशिष्ट में कालानुसार मुख्य मुख्य घटनाओं की तालिका दी गई है।

आशा है, हिंदी संसार लेखक की इस पहिली कृति का आदर कर उनको प्रोत्साहित करेगा।

काशी विद्यापीठ,
२६ वैशाख, सं० १९८५.

नरेन्द्रदेव।

सहायक पुस्तकों की सूची

(BIBLIOGRAPHY.)

Early History of India by Vincent A. Smith.

Buddhist India by Rhys Davids.

Asoka by Vincent A. Smith.

Asoka by D. R. Bhandarkar.

Corporate Life in Ancient India by R. C. Majumdar.

Hindu Polity by K. P. Jayaswal.

Lectures on the Ancient History of India by D. R. Bhandarkar.

The Purana Text of the Dynasties of the Kali Age by T. E Pargiter.

Ancient India as described by Megasthenes and Arrian. (Translation of J. W. Mc Crindle)

Arthashastra of Kautilya Edited by R. Sharma Sastri, Mysore. Translation by the same.

Arthashastra of Kautilya. Edited by J. Jolly, Lahore.

Studies in Indian Polity by Narendranath Law.

Inter-State Relations by Narendranath Law.

Tribes and Clans in Ancient India by Bimalacharan Law.

Kautilya by Narayanchandra Bandyopadhyaya.

Economic Conditions in Ancient India by J. N. Samaddar.

The social Organisation in North-East India in Buddha's Time by Richard Tick.

Introduction to Indian Art by A. Coomaraswami.

The Cambridge History of India, Vol. I.

Political History of Ancient India by Roy Chowdhury.

Outline of Ancient Indian History and Civilisation by R. C. Majumdar.

Asoka (Corpus Inscriptionum Indicarum) by Hultgsch.

A Handbook of Indian Art by Havell.

Matrawanso. Translated by G. Turnour.

अशोक के धर्मलेख लेखक पं० जनार्दन भट्ट

मेगास्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन अनुवादक पं० रामचंद्र शुक्ल

कौटिलीय अर्थ-शास्त्र अनुवादक उदयवीर शास्त्री

विषयसूची

मौर्य्यकालीन भारत का इतिहास

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

भारतीय इतिहास का आरंभ—उन भारतीयों के विचार में जिन्हें पुराणों को ऐतिहासिक ग्रंथ मानने में कुछ असुविधा नहीं है—महाभारत के युद्ध के अंत से ही होता है। परंतु सामान्यतः समालोचनात्मक दृष्टिवाले आधुनिक इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास का आरंभ सातवीं शताब्दी (ईसा के पूर्व) के मध्य में मान रखा है।

उस काल में भारतवर्ष के अंदर नर्मदा और हिमालय के मध्य का सुविस्तृत भव्य मैदान अनेक स्वतंत्र राजसत्ताओं तथा प्रजातंत्रात्मक सत्ताओं में बँटा हुआ था। कोई एकछत्र-राज्य नहीं था जिसके हाथ में देश की सारी शक्ति होती, जो देश का एक सार्वभौम अधिपति होता, जिसके द्वारा देश का राज्यचक्र एक सूत्र में बाँधकर घुमाया जाता।

प्राचीन भारत में, ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में, गांधार के पश्चिमोत्तर प्रांत से लेकर हिमालय तथा नर्मदा के मध्य की सुविस्तृत भूमि में १६ बड़ी बड़ी ऐसी सत्ताएँ* पाई जाती हैं जिनके हाथ में शक्ति थी और जिनमें की कुछ सत्ताएँ काफी बड़ी तथा अच्छी भी थीं।

इन्हीं राजसत्ताओं में से—उस समय की—मगध, कोशल, वत्स† और कौशांबी—ये चार मुख्य थीं। ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में कोशल का स्थान उत्तरीय भारत के अन्य राज्यों में सबसे मुख्य तथा प्रथम था। भारतीय ऐतिहासिक काल (Historical Period) के आरंभ में ही काशी की स्वतंत्रता नष्ट की गई और कोशलराज के द्वारा काशी का राज्य सम्मिलित कर लिया गया। इसके बाद ही धीरे धीरे मगध का भी उत्थान आरंभ हुआ। उसका संबंध भी कोशलराज से स्थापित हुआ और आगे चलकर मगध ही ऐसा राज्य हुआ कि जिसके अधिपति "एकराट्" तथा "सार्वभौम नृपति" कहलाए और जिसकी राजधानी सारे भारत की राजधानी हो गई।

भारतीय राजनीतिक-क्षेत्र के अलावा उसके धार्मिक क्षेत्र की रंगभूमि भी ये (मगध, कोशल, वत्स और कौशांबी) स्थान थे जिसके कारण इन स्थानों ने मुख्यता प्राप्त की और साथ ही इन स्थानों के इतिहास का भी पता उन्हीं धर्मग्रंथों के द्वारा हमें

---

* उनके लिये "महाजनपद" शब्द का प्रयोग होता था। सं०

† 'वत्स' को बौद्ध ग्रंथों में 'वंसा' और 'वच्छ' भी लिखा है। सं०

लगा जाता है। कोशल की राजधानी श्रावस्ती और उसके अधीन काशी, मगध में गया तथा वैशाली आदि स्थानों से जैन, बौद्ध तथा हिंदू-ब्राह्मण धर्म आदि सभी का संबंध था। इस कारण से इनके इतिहास हमें तीनों धर्मों की अनेक प्रकार की पुस्तकों से काफी प्राप्त हैं, यद्यपि अन्य भारतीय देशों के विषय में हमें ये केवल अंधकार में ही छोड़ देते हैं।

हिंदू-ब्राह्मण धर्म, जैन तथा बौद्ध आदि धर्मों के धर्म-ग्रंथ—जिनसे उस समय की भारतीय दशा का ज्ञान हमें प्राप्त होता है—प्राय: इस बात पर सहमत हैं कि प्राचीन भारत में, ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में, भारत की राजनीतिक, सामाजिक दशाएँ कैसी थीं और किन किन राजवंशों ने उस समय भारत पर राज्य किया।

प्राचीन भारत की ऐतिहासिक प्रामाणिकता के आधार पर सबसे पहला राजवंश (जो पुराणों के अनुसार मिलता है वह) शैशुनाग वंश है*। इस वंश का पहला राजा शिशुनाग था। यह मगध में एक छोटे से राज्य की नींव ईसा

* महाभारत में शैशुनाग वंश से पहले 'बृहद्रथ' वंश के मगध में राज्य करने का वर्णन है। जरासंध उसी वंश का था। बृहद्रथ वंश का अंत ईसा की छठी शताब्दी में हुआ। उसके बाद शैशुनाग वंश का उदय हुआ। सीलोन के महावंश ग्रंथ में बिंबिसार और अजातशत्रु के बाद शिशुनाग का राज्य करना लिखा है। डा० भंडारकर की भी यही धारणा है। परंतु मताधिक्य वायुपुराण के अनुसार शिशुनाग को बिंबिसार के पूर्व मानता है। सं०

के ६४२ वर्ष पूर्व डालकर राज्य कर रहा था। इसके राज्य के अंतर्गत आजकल के पटना और गया के जिले शामिल थे। कहा जाता है कि इसने ४० वर्षों तक राज्य किया। प्राचीन राजगृह, जो गया की पहाड़ियों के सन्निकट अवस्थित है, इसकी राजधानी थी। इससे अधिक इसके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इसके उत्तराधिकारियों में इसके बाद इस वंश के पांचवें राजा का नाम आता है जिसको प्रामाणिक इतिहास में कुछ विशेष स्थान प्राप्त है।

बिंबिसार इस वंश का पाँचवाँ राजा था। वह मगध साम्राज्य-शक्ति का संस्थापक था। उसने पूर्व के अंग नामक राज्य पर अधिकार कर लिया और अपना एक चरण सबसे प्रथम उधर अग्रसर किया जिसके द्वारा उस शताब्दी में मगध साम्राज्य की नींव पड़ी और वह उन्नति, बड़प्पन तथा मुख्यता की ओर अग्रसर हुआ। दूसरा चरण जो उसने आगे बढ़ाया, जिसके द्वारा मगध में एक बढ़ती हुई शक्ति के भारतीय राजनीतिक आकाश में उदय होने का आभास मिलता है, वह कोशलराज की कन्या से विवाह-संबंध स्थापित करना था। कोशल उस समय एक प्रबल, मुख्य, और बढ़ा चढ़ा हुआ भारतीय राज्य था, जिसके द्वारा विवाह-संबंध स्थापित करने का तात्पर्य्य ही यह था कि पूर्व में किसी शक्ति का उदय हो रहा है। साथ ही उसने प्रसिद्ध लिच्छवियों की कन्या से भी विवाह कर लिया जिनका प्रभाव और जिनकी उच्चता उस समय भी

देश में सर्वमान्य थी*। इन लिच्छवियों का निवासस्थान वैशाली था। बिंबिसार का राज्यकाल ईसा के पूर्व ५२८† वर्ष से आरंभ होता है। कहा जाता है कि इसने २८ वर्ष राज्य किया। इसके अनंतर अपनी अंतिम अवस्था में इसने अपनी लिच्छवीय रानी से उत्पन्न‡ अपने पुत्र अजातशत्रु के हाथों में राज्य की बागडोर दे दी और वह आप एकांतवास करने लगा।

अजातशत्रु अपने पिता से छुट्टी पाने के लिये अधीर हो उठा तथा (बौद्ध ग्रंथों के अनुसार) उसने अपने पिता को भूखों मार डाला। बौद्ध ग्रंथों में इस प्रकार का भी वर्णन मिलता है कि जिस समय अजातशत्रु इस प्रकार पितृहत्या करके गद्दी पर बैठा उस समय भगवान् बुद्ध जीवित थे। राज्यासीन होने के उपरांत उससे भगवान् बुद्ध से साक्षात्कार भी हुआ जिसमें उसने इस भयंकर हत्या के पाप के लिये बड़ा पश्चात्ताप किया और भगवान् बुद्धदेव के द्वारा अपने को बौद्ध धर्म में दीक्षित करा लिया।

* बिंबिसार ने पंजाब के अंतर्गत मद्रराज्य की "खेमा" नाम की कन्या से भी विवाह किया था। सं०

† प्रो० गायगर और रेप्सन बिंबिसार के राज्यकाल का आरंभ ईसा के पूर्व सन् ५४३ से मानते हैं। सं०

‡ उत्तर कालीन बौद्ध ग्रंथ अजातशत्रु को कोशल-राज की पुत्री का पुत्र लिखते हैं। सं०

अजातशत्रु से और कोशलराज़ से युद्ध भी हुआ था। कोशलराज की बहिन बिंबिसार को ब्याही गई थी जिसने बिंबिसार की मृत्यु से दुखी होकर प्राणत्याग किया था। इसी कारण से इन दोनों में युद्ध हुआ था। युद्ध का पूरा वर्णन तो मिलता नहीं पर यह निश्चित सा है कि अजातशत्रु के प्रभाव का सिक्का कोशल पर पूर्ण रूप से जम गया और ईसा के पूर्व की चौथी शताब्दी में कोशल एक भिन्न स्वतंत्र राज्य नहीं रह गया वरंच मगध साम्राज्य का एक भाग बना लिया गया।

अजातशत्रु की बढ़ती हुई आकांक्षा इतने से ही शांत न हुई। उसने लिच्छवियों के प्रांत तिरहुत पर एक प्रभावशाली तथा सफल आक्रमण किया और उनकी राजधानी वैशाली को जीत लिया।

संभवतः इसी काल में गंगा और हिमालय के मध्य के सुविस्तृत छोटे-बड़े सभी राज्य अजातशत्रु के बलशाली बाहुछत्र की छाया में आ चुके थे और मगध साम्राज्य का रूप प्रकट हो चुका था। अजातशत्रु ने पाटलिग्राम के निकट एक किला भी बनवाया। इसी किले के समीप अजातशत्रु के पौत्र उदयिन ने एक नगर की स्थापना की जो कुसुमपुर अथवा पाटलिपुत्र के नाम से विख्यात हुआ और धीरे धीरे भारतीय साम्राज्य की राजधानी के पद को प्राप्त हुआ*। अजातशत्रु

* बौद्ध ग्रंथों के अनुसार कुसुमपुर का संस्थापक "कालाशोक" है। सं०

के अनंतर दर्शक नामक राजा के राज्यासीन होने का वर्णन पुराणों में मिलता है। पर इस राजा के विषय में अभी तक ऐतिहासिकों के सम्मुख कोई सामग्री प्रस्तुत नहीं हुई है अस्तु, इसके बाद अजातशत्रु के पौत्र उदयिन का वर्णन मिलता है* । पाटलिपुत्र की स्थापना ही इसके जीवन-काल की एक विशेष घटना थी। अजातशत्रु के बाहुबल द्वारा बृहद् साम्राज्य उपार्जित हो चुका था। इसके उपरांत इन लोगों के लिये कोई विशेष कार्य्य अवशिष्ट न था। अस्तु।

इस वंश का अंतिम राजा महानंदि हुआ। इसकी सूचना हम लोगों को केवल पुराणों के द्वारा मिलती है। इसके विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। इसकी एक शूद्रा रानी के गर्भ से उत्पन्न महापद्मनंद नामक एक राजकुमार था जिसने अपने पिता के विरुद्ध बगावत का झंडा उठाया और जबरदस्ती मगध-साम्राज्य का सिंहासन छीनकर आप राजा बन बैठा।

महापद्मनंद बड़ा प्रतापशाली और बलवान् शासक था। सिकंदर के आक्रमणकाल में यह भारतवर्ष के पूर्वीय साम्राज्य का शासक था। इसने सिकंदर का सामना करने की तैयारी की और एक बलशाली सेना लेकर उसके आक्रमण की रोक करने के लिये प्रयाण भी किया था। पर सिकंदर पंजाब के

* महावंश में अजातशत्रु के बाद चार राजाओं का वर्णन है परंतु वह संदिग्ध है। सं०

बाहर आक्रमण की आशा छोड़कर लौट गया और परिणामतः महापद्म* से उसका सामना न हो सका।

महापद्म के आठ संतानें थीं जो पिता को मिलाकर नव-नंद के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसा कहा जाता है कि मुरा नाम्नी दासी से महापद्म को चंद्रगुप्त नामक एक पुत्र और हुआ जो कि चंद्रगुप्त मौर्य्य के नाम से प्रसिद्ध है†। परंतु पुराणों से इस बात का पता नहीं चलता कि चंद्रगुप्त का नंदों से कोई पारिवारिक संबंध भी था।

नंदवंशियों ने कितने दिनों तक राज्य किया—चंद्रगुप्त का इनसे क्या संबंध था—इत्यादि विषयों में बड़ा मतभेद है। पर इतना तो सभी मानते हैं और यह सिद्ध भी हो जाता है कि नंदवंशीय राजा क्षत्रिय कुल के नहीं थे‡। इनकी जाति नीच थी। इन्होंने शिशुनागवंशीय राजा

* कुछ विद्वान् सिकंदर के लौटने के समय महापद्म के पुत्र धननंद का मगधाधिपति होना मानते हैं। सं०

† महावंश के टीकाकार के अनुसार चंद्रगुप्त शाक्य वंश का था। कुछ विद्वानों की धारणा है कि मोरीय वंश से ही मौर्य्य शब्द संबंध रखता है न कि कल्पित मुरा दासी से। सं०

‡ इसमें संदेह नहीं कि क्षत्रिय वंश शैशुनाग और नंद वंश का पिता की ओर से संबंध रहते हुए भी उन दोनों में सामाजिक और धार्मिक विभिन्नता थी। इसका कारण महानंदिन के एक शूद्रा स्त्री से

को मारकर राज्यसत्ता प्राप्त की थी। शायद इनकी नीची जाति का होना भी एक कारण था जिससे कि ब्राह्मण जनता इनसे कुछ खिन्न रही हो। अतः अंतिम नंद राजा को सिंहासन से च्युत कर और उसका वध करके चंद्रगुप्त स्वयं राजा बन बैठा। इसका सहायक तथा मंत्री चाणक्य नामक एक विद्वान् तथा सुचतुर ब्राह्मण था।

चंद्रगुप्त ने सिकंदर के मरने के उपरांत हिंदुओं की शक्ति को संगठित करके यूनानियों द्वारा पश्चिमोत्तर प्रांत पर स्थित यूनानी राजसत्ता की पराधीनता से भारत को स्वतंत्र करने के लिये विद्रोह किया तथा इसके अनंतर चाणक्य की सहायता पाकर नंदवंश के अंतिम राजा से राज्य छीनकर वह स्वयं मगध साम्राज्य का कर्त्ता धर्त्ता बन गया। उसकी इस बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिये कुलू, काश्मीर, मलय, सिंधु तथा पारस—इन पाँच स्थानों के राजाओं ने मिलकर आक्रमण किया, जिसका सामना चंद्रगुप्त ने सफलतापूर्वक बड़ी वीरता के साथ करके अपनी शक्तिमत्ता का परिचय दिया और साम्राज्य के योग्य शासक होने का प्रमाण देते हुए देश में अपना सिक्का जमा लिया। इस प्रकार मजबूती तथा

उत्पन्न पुत्र का राज्यारूढ़ होना कहा जाता है। तथापि कुछ विद्वानों का विचार है कि नंदवंशी राजा नंदकुल के थे जो कि गंगा और कोसी नदियों के मध्यस्थ हिमालय की तराई में रामगंगा नदी के समीप निवास करते थे। अस्तु। सं०

बलवत्ता के साथ प्रशंसा-योग्य चातुरी के द्वारा यूनानियों को निर्वासित कर—भारतीय पश्चिमोत्तर प्रांत को विदेशियों से स्वतंत्र करके—भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में एक सफल, सुंदर तथा बलवान् शासक के रूप में भारतीय उन्नति में सहायक होकर भारतीय इतिहास के एक मुख्य निर्माण-कर्त्ता के रूप में चंद्रगुप्त अवतीर्ण हुआ।

दूसरा अध्याय

मौर्य्यकालीन भारत की राजनीतिक स्थिति

भारत का प्राचीनतम इतिहास, उसकी प्राचीनतम सभ्यता, उसकी सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति, उसका धार्मिक उत्कर्ष आदि सभी विषय—भारत के धर्म-ग्रंथों तथा काव्यों में—यदि विवेचनात्मक रूप में नहीं तो कम से कम स्फुट रूप में, किसी न किसी प्रकार, कुछ न कुछ मिल ही जाते हैं। परंतु आज ऐतिहासिक संसार उन वर्णनों को ऐतिहासिक प्रामाणिकता के आधार पर मानने को प्रस्तुत नहीं है। अतएव हमें उन्हें वहीं छोड़ देना पड़ता है।

आजकल भारतीय सभ्यता की खोज का ऐतिहासिक प्रमाण बुद्ध-काल माना जाता है और उस समय से उसकी कुछ विवेचनात्मक समालोचना की जा रही है। बुद्ध-काल के बौद्ध लेखक, बौद्ध धर्म-ग्रंथ आदि इस विषय में हमें अधिक सहायता देते हैं। वे ऐतिहासिकों के लिये सामग्री प्रस्तुत करते हैं; और भारतवर्ष की तत्कालीन अवस्था, उसकी स्थिति और उसकी सभ्यता को भी सभ्य संसार में उच्चतम स्थान पर प्रदर्शित करते हैं जिस कारण से वे हम भारतीयों और भारतवर्षीय इतिहास के जिज्ञासुओं—दोनों—के आदर-भाजन तथा प्रेमपूर्ण धन्यवाद के पात्र हैं।

मौर्यकालीन भारतीय राजनीतिक स्थिति जानने के पूर्व हमें देखना है कि उसके पूर्व बौद्ध भारत की क्या अवस्था थी और वह पुनः धीरे धीरे मौर्य्य साम्राज्य में परिणत होकर किस अवस्था को प्राप्त हुआ।

बुद्धकाल के पूर्व भारत की राजनीतिक अवस्था विचित्र थी। भारत के बृहद्भौमिक विस्तार का उपभोक्ता कोई एक पुरुष या वंश नहीं था। उत्तरीय भारत में अनेक छोटी छोटी रियासतें थीं, वह अनेक छोटे छोटे टुकड़ों में बँटा था—उसके अनेक छोटे छोटे राजा थे जो आपस में एक दूसरे से लड़ा करते थे। कोई एक शक्ति उस समय नहीं थी जो इन सबको एक सूत्र में बाँध सकती, किसी एक ऐसे साधन का आविर्भाव उस समय नहीं हुआ था जिससे वे एक किए जा सकते। बौद्ध धर्म के उत्थान के पूर्व ही भारत का जो राजनीतिक विभाग "षोडस् महाजनपद" के नाम से विविध पुस्तकों में पाया जाता है उसके देखने से ज्ञात होता है कि उन महाजनपदों के नाम अधिकतर उन विशेष देशों के नहीं हैं बल्कि वे उन जातियों के हैं जिनकी वहाँ शक्ति थी, जो वहाँ राज्य करती थीं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) अंग (२) मगध (३) कोशल (४) काशी (५) वज्जी (६) मल्ल (७) चेदि (८) वत्स (९) कुरु (१०) पंचाल (११) मत्स्य (१२) शूरसेन (१३) अश्मक (१४) अवंती (१५) गांधार (१६) कांबोज।

(१) अंग का स्थान वर्तमान भागलपुर के निकट मगध के पूर्व था, उसकी राजधानी चंपा थी। पहले यह स्वतंत्र था, किंतु बुद्ध के समय में यह मगध के अधीन हो गया और फिर इसको पुन: स्वतंत्रता नहीं प्राप्त हुई।

(२) मगध—जैसा कि मालूम होता है—वर्तमान विहार के जिलों में स्थित था। उसके उत्तर में संभवत: गंगा थी और दक्षिण में विंध्याचल के शिखर तथा पूर्व में चंपा नदी और पश्चिम में सोन नद स्थित था।

(३) कोशल की राजधानी सावत्थी (श्रावस्ती) थी। इसका विस्तार बराबर बढ़ता गया था और बुद्धकाल में इसने शक्ति प्राप्त की थी और धीरे धीरे प्रबल हो गया था।

(४) काशी—वर्तमान काशी और उसके आसपास दूर तक फैला हुआ था। बुद्ध के समय में ही यह स्वतंत्र राज्य कोशल के अधीन कर लिया गया।

(५) वज्जियों में आठ अन्य जातियों की शक्ति भी सम्मिलित थी जिनमें लिच्छवी और विदेह मुख्य थे। विदेह प्राचीन समय में एक राजतंत्र शासन के रूप में वर्णित है, पर पता चलता है कि बुद्ध के समय में यह बहुसम्मत प्रजातंत्र शासन के अधीन था।

(६) मल्ल—कुशीनारा और पौवा की स्वतंत्र जातियाँ थीं। संभवत: वे तराई में रहती थीं।

(७) चेदि—कौशांबी के पूर्व में बसे हुए थे।

(८) वत्स—वत्सों का देश था। यह अवंती के उत्तर में था; इसकी राजधानी कौशांवी थी।

(९) कुरु लोग वर्तमान देहली में थे जो उस समय इंद्रप्रस्थ के नाम से विख्यात थी।

(१०) पांचाल कुरुओं के पूर्व में थे जिनकी राजधानी कन्नौज थी—इनकी एक शाखा और थी जिनकी राजधानी कांपिल्य थी।

(११) मत्स्य कुरुओं के दक्षिण में थे और जमुना उनके पूर्व थी।

(१२) शूरसेनों की राजधानी मधुरा (मथुरा) थी और ये मत्स्यों के दक्षिण पश्चिम में बसे थे।

(१३) अश्मक बुद्ध के समय में गोदावरी नदी के तीर पर थे।

(१४) अवंती एक प्रसिद्ध प्राचीन स्थान था जिसकी राजधानी उज्जैन थी।

(१५) वर्तमान कंदहार तथा पूर्वीय अफगानिस्तान के जिलों में गांधार था।

(१६) रिस डेविड ने अपने बुधिस्ट इंडिया नामक ग्रंथ में कम्बोजों का स्थान पश्चिमोत्तर प्रांत में माना है। उनके मत में उनकी राजधानी द्वारक थी। हुल्श महाशय ने इंसक्रिपशंस आफ् अशोक की भूमिका में (पृ० ३८) कंबोजों का स्थान काबुल माना है।

इस प्रकार के विभाग को देखकर ज्ञात होता है कि उस समय भारत के उन लोगों की दृष्टि, जिन्होंने इस विभाग की सूची तैयार की थी—उत्तर में हिमवान् के शिखर तथा दक्षिण में विशाल विस्तृत विंध्य की शाखाएँ, पश्चिम में सिंधु के पार की पहाड़ियों, तथा पूर्व में गंगा के दक्षिणाभिमुख होने तक ही परिमित थी।

इसके अनंतर इन विच्छिन्न विभेदयुक्त छोटे राज्यों में भारत की केंद्रस्थता आरंभ हुई। धीरे धीरे एक दूसरे से मिलने लगे और बुद्ध भगवान् के उपदेश के समय चार राज्य मुख्य हो चले—मगध, कोशल, वत्स और अवंती।

इसमें कोशल सबसे मुख्य था। यह राज्य बहुत विस्तृत भी था, पर आगे चलकर मगध का उत्थान आरंभ हुआ और धीरे धीरे वह एक प्रबल शक्ति-संपन्न साम्राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया। बुद्धोपदेश के समय अवंती के शासक चंड-प्रद्योत थे,—वत्स के शासक उदयन, कोशल के राजा प्रसेन-जित तथा उसके पुत्र विडूडभ (विरूढक), तथा बिंबिसार और उसका पुत्र अजातशत्रु मगध के राजा थे। इस प्रकार ये मुख्य शासक भारत के तत्कालीन राजनीतिक क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे। इनमें आपस में वैवाहिक संबंध भी था।

इन्हीं चारों में उस समय आपस का संघर्ष आरंभ हुआ था और धीरे धीरे भारतीय राजनीतिक विभाग की केंद्रस्थता शुरू हुई और अंत में एक प्रबल भारतीय साम्राज्य की नींव

पड़ी। अवंती का चंडप्रद्योत बड़ा वीर पुरुष था। उसने अपने समकालीन वत्स के राजा उदयन से युद्ध किया और छल से उसे कैद कर अपनी राजधानी में ले गया*। उदयन से तथा चंडप्रद्योत की कन्या से वहाँ स्नेह हो गया जिसके परिणाम स्वरूप उन दोनों का विवाह हो गया। इससे अधिक इनके विषय में पता नहीं चलता। प्रद्योत के बाद उसके पुत्र पालक और आर्यक के नामों का भी पता चलता है।

कोशल का राजा प्रसेनजित था, उसका पुत्र विडूडभ था। उसने अपने अपमान का बदला लेने के लिये शाक्यों पर आक्रमण किया था और उन्हें बड़ा तंग भी किया था। इसी समय में मगध में बिंबिसार का उत्थान, जो शिशुनाग वंश का पंचम राजा था, आरंभ हुआ था। बिंबिसार ने उस समय के प्रबल राज्य कोशल की राजकन्या से अपना विवाह करके वैवाहिक संबंध भी जोड़ लिया था। उसने एक लिच्छवी कन्या से भी विवाह किया था और उसी के गर्भ से अजातशत्रु की उत्पत्ति हुई थी†। अजातशत्रु ने जब पितृहत्या करके शासन की बागडोर अपने हाथों में ली तब उसकी विमाता ने पतिशोक में प्राणत्याग किया जिसके परिणाम-स्वरूप कोशल

---

* यद्यपि यह कथा असंभव नहीं परंतु इसका सुदृढ़ प्रमाण कथा के अतिरिक्त और कुछ नहीं। सं०

† देखो पूर्व टिप्पणी पृ० ९ जिसमें, उत्तर कालीन बौद्ध ग्रंथों में अजातशत्रु को कोशलराज की कन्या से उत्पन्न होना कहा गया है। सं०

और मगध के राजाओं में युद्ध आरंभ हुआ। इस युद्ध से मगध की शक्ति और बढ़ी तथा कोशल ने भी उसकी शक्ति के सामने अपना सिर झुकाया। वैशाली को भी अजातशत्रु ने जीत लिया। वह उस समय लिच्छवियों की राजधानी थी। इसी वंश में आगे चलकर दासी-कन्या से उत्पन्न महापद्मनंद ने राज्यासन पर पदार्पण किया; और उसने न केवल शुद्ध शैशुनाग वंश का ही नाश करके राज्य हाथों में लिया, बल्कि अपने बाहुबल के द्वारा—अपनी शक्ति के द्वारा—उसने भारत में प्रबल एकछत्र राज्य स्थापित किया।

इस प्रकार आर्यों का बसाया हुआ देश पहले १६ राष्ट्रों में विभक्त था। बुद्ध-काल में वह चार मुख्य राज्यों के रूप में हो गया। इसके अनंतर इनकी प्रवृत्ति धीरे धीरे एक होने की हुई। मगध साम्राज्य की नींव डालकर बिंबिसार ने उसका उत्थान आरंभ किया और अंत में वह साम्राज्य महापद्मनंद के हाथ में आकर सफल रूप से विस्तृत तथा संघटित हुआ। कोशल, वैशाली आदि मिलाए गए। महापद्मनंद ने और भी राज्य बढ़ाया—अपनी शक्ति की वृद्धि की। पुराणों में लिखा है कि उसने देश को निःक्षत्रिय किया। इस प्रकार महापद्मनंद ने भारतवर्ष को एक प्रबल, शक्तिशाली, सुसंघटित साम्राज्य के अधीन कर उसमें एक-सूत्रता स्थापित की और एक राष्ट्र का निर्माण किया।

इसी पराक्रमी महापद्मनंद के राज्यकाल में विदेशी यूनानी वीर महाविजयी सिकंदर का भी आक्रमण भारतीय पश्चिमी

सीमा पर हुआ था और उसने पंजाब तक सारा पश्चिम प्रांत अपने सफल विजयो चरणों द्वारा रौंद डाला था। सिकंदर का सामना करने के लिये महापद्मनंद ने भारी सेना इकट्ठी कर रखी थी। पर कहा जाता है कि सिकंदर के लौट जाने के कारण उसे भारतीय साम्राज्य के एक शक्तिशाली वीर का बल आजमाने का अवसर नहीं मिला। इस महापद्मनंद के बाद साम्राज्य की बागडोर चंद्रगुप्त मौर्य के हाथों में गई। ऐसा कहा जाता है कि महापद्मनंद की एक दासी से, जिसका नाम मुरा था, चंद्रगुप्त की उत्पत्ति हुई थी*। इस विषय में विद्वानों में मतभेद होते हुए भी यह बिलकुल निश्चित है कि चंद्रगुप्त राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी न था और सुचतुर परम विद्वान् कौटिल्य नामक ब्राह्मण की सहायता से उसने नंद वंश के अंतिम राजा की हत्या कर साम्राज्य अपने हाथ में कर लिया। इस प्रकार इस समय (अर्थात् ईसा से ३२१ वर्ष पूर्व) भारतवर्ष में मगध साम्राज्य का—जिसमें काशी, कोशल, अंग, वैशाली और मगध के सुविस्तृत भूखंड शामिल थे—अधिपति चंद्रगुप्त हुआ।

चंद्रगुप्त का उत्थान आरंभ हुआ। वह वीर, चतुर और बलवान् शासक था। उसके राज्यारोहण करते ही पाँच

---

* पीछे नोट देखो। चंद्रगुप्त राजा नंद की सेना का मुख्याध्यक्ष था। संभवतः अपने निर्वासन के पहले ही वह सेनाध्यक्ष था। संपादक।

राज्यों ने उसकी बढ़ती हुई उन्नति को रोकने का विफल प्रयत्न किया। भारतीय पश्चिमी सीमा को यूनानी परतंत्रता से मुक्त करने का श्रेय भी चंद्रगुप्त को ही प्राप्त हुआ। इस प्रकार चंद्रगुप्त जब अपने साम्राज्य को सुसंघटित और बलवान् बनाने की चेष्टा कर रहा था, उसी समय उसका एक प्रतिद्वंद्वी, सिकंदर का एक बड़ा सेनापति, सिकंदर द्वारा जीते हुए भारतीय प्रदेशों को पुनः अपने हाथों में करने का प्रयत्न कर रहा था। सिल्यूकस सिकंदर के सेनापतियों में से था और सिकंदर की मृत्यु के बाद वह उसके जीते हुए मध्य एशिया के प्रांतों का शासक बना। उसके साम्राज्य का विस्तार भारतवर्ष की सीमा तक था; अतः उसने सिकंदर के जीते हुए प्रदेशों को पुनः ले लेने की इच्छा से भारतवर्ष पर चढ़ाई की*। सिल्यूकस की सेना चंद्रगुप्त का सामना न कर सकी और विवश होकर उसे हार मानकर चंद्रगुप्त से संधि करनी पड़ी।

सिल्यूकस आया था भारत को जीतने, अपनी साम्राज्य-लोलुपता की पूर्ति करने, पर दुर्भाग्य से उसे मुँह की खानी पड़ी और साम्राज्य-वृद्धि के स्थान पर उसे सिंधु नदी के पश्चिम में "एरियाना" का बहुत सा भाग चंद्रगुप्त को दे देना पड़ा। पेरोपेनीसीडाई (Parapanisadai), एरिया (Aria) और अराकोसिया (Arachosia) के तीन प्रांत, जिनकी राजधानी क्रमशः

* सिल्यूकस का भारत पर आक्रमण ईसा के लगभग तीन सौ दो वर्ष पूर्व हुआ था। सं०

वर्तमान काबुल, हिरात और कंधार है, सिल्यूकस से चंद्रगुप्त ने प्राप्त किए। यह संधि करके तथा विक्रमशाली भारतीय नरेश के बल की महत्ता देखकर सिल्यूकस ने अपनी कन्या उसे देकर वैवाहिक संबंध भी स्थापित कर लिया* जैसा कि संसार के राजा राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्राय: किया करते हैं।

इस समय चंद्रगुप्त के हाथ में भारतीय साम्राज्य का विस्तार उत्तर में हिंदूकुश के पर्वतों तक हो गया। कहा जाता है कि मुगल बादशाहों के समय में भी भारत की सीमा हिंदूकुश तक नहीं फैली थी†। चंद्रगुप्त के समय में ही भारतवर्ष का राजनीतिक संबंध विदेशियों के साथ भी स्थापित हुआ और मेगस्थिनीज नामक यूनानी दूत यूनानी सेनापति सिल्यूकस द्वारा भारतीय नरेश के दर्बार में भेजा गया। मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी; वह नगर सोन और गंगा के संगम पर बसा हुआ था जहाँ इस समय वर्तमान पटना और बाँकीपुर के शहर बसे हुए हैं। मेगस्थिनीज पाटलिपुत्र

---

* यद्यपि मताधिक्य चंद्रगुप्त से सिल्यूकस की पुत्री के विवाहित होने के पक्ष में है, तथापि यह विषय संदेह-रहित नहीं। एपियन और स्ट्रेबो ने जिन यूनानी भाषा के शब्दों का प्रयोग किया है, वे संदिग्ध एवं चिंत्य हैं। जार्ज मेकूडानेल इस वैवाहिक संबंध को स्वीकार नहीं करते। सं०

† बाबर और अकबर के समय में मुगल राज्य की सीमा लगभग इतनी ही थी। सं०

का वर्णन करता हुआ लिखता है कि उसके चारों तरफ काठ की बनी एक दीवार थी जिसमें ६४ फाटक और ५७० बुर्जियाँ थीं। इस दीवार के चारों तरफ एक गहरी खाई थी जिसमें सोन का जल भरा रहता था। इस प्रकार पाटलिपुत्र को भारतीय साम्राज्य के केंद्रस्थान प्राप्त होने का सौभाग्य मिला था और यह बहुत दिनों तक उस पर स्थिर भी रहा। चंद्रगुप्त ने केवल २४ वर्षों तक राज्य किया, पर इतने थोड़े समय में ही उसने भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति में क्रांति उत्पन्न कर दी।

भारतीय परतंत्रता का जो बीजारोपण पश्चिम की यूनानी जातियों द्वारा हुआ था, उसका मूलोच्छेदन करने के लिये चंद्रगुप्त ने यूनानी सेनाओं को भारत से निकाल दिया; सिल्यूकस को गहरी हार ही देकर नहीं छोड़ दिया वरन् उसके साम्राज्य के कुछ अंश भी छीन लिए; एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक समस्त उत्तरीय भारत को एकछत्र-साम्राज्य बनाकर अपने अधिकार में कर लिया और एक बड़ी भारी सेना एकत्र एवं संघटित करके, बड़े भारी सुविस्तृत साम्राज्य का शासन बड़ी बुद्धिमानी और बलवत्ता के साथ किया। विदेशी यूनानी शासक उसकी मित्रता के इच्छुक रहते थे, और उसके बल की धाक उन पर ऐसी जमी थी कि सिल्यूकस के बाद किसी यूनानी राजा ने भारतीय सीमा की ओर ताकने तक का साहस न किया; और चंद्रगुप्त के बाद की दो पीढ़ियों तक उनका राजनीतिक और व्यावसायिक संबंध भारत के साथ बना रहा।

चंद्रगुप्त के उपरांत उसके पुत्र को गद्दी मिली। चंद्रगुप्त ने साम्राज्य को इस प्रकार सुसंघटित किया था कि मौर्य्य साम्राज्य की बागडोर उसके वंशधर—उसके पुत्र और पौत्रों—के हाथ में निर्विघ्न रूप से बनी रही। उस समय भी भारत के शासक और उसकी शक्ति की ऐसी धाक विदेशियों पर जमी थी कि चंद्रगुप्त के पुत्र बिंदुसार के राज्यकाल में सिल्यूकस के पुत्र एंटिओकस सोटर ने अपने पिता की नीति का अनुसरण करते हुए, भारत से राजनीतिक संबंध बनाए रखने के लिये डेइमेकस नामक राजदूत को भारत में भेजा था। केवल सोटर ने ही नहीं बल्कि मिस्र के शासक टालेमी फिलाडेल्फस ने भी डायोनीसियस नामक राजदूत को भारत में भेजकर राजनीतिक संबंध का श्रीगणेश किया था।

बिंदुसार के राज्यकाल में भारतीय साम्राज्य के विस्तार और उसमें सम्मिलित भूखंडों का कुछ भी पता नहीं चलता। पर अशोक के धर्मलेखों से उसके राज्यविस्तार का करीब करीब ठीक ठीक पता लग जाता है। अभी आगे चलकर हम यह देखेंगे कि दक्षिण में संरक्षित राज्य और अर्द्धस्वतंत्र राज्यों को मिलाकर अशोक का साम्राज्य नीलौर तक फैला हुआ था। साथ ही दूसरे लेखों से भी पता चलता है कि कलिंग को छोड़कर उसने अन्य किसी प्रांत को नहीं जीता। चंद्रगुप्त को अपने राज्यकाल में इतने काम करने पड़े थे कि शायद उसे दक्षिण-विजय करने का मौका ही न मिला

हो। ऐसी अवस्था में इस बात की संभावना है कि बिंदुसार ने भारत की सीमाओं के अंदर साम्राज्य-विस्तार की नीति जारी रखी हो और दक्षिण का विजय भी उसी ने किया हो*। इससे अधिक बिंदुसार के विषय में और कुछ भी ज्ञात नहीं है†।

बिंदुसार के बाद अशोक (जो कि चंद्रगुप्त का पौत्र था) राज्यासीन हुआ। भारतीय इतिहास में अशोक की गणना केवल एक भारत-सम्राट् के ही रूप में नहीं होती, प्रत्युत वह संसार के बड़े सम्राटों में गिना जाता है। अशोक मौर्य्य वंश का वह शासक था जिसके समय में भारत की उन्नति, जो चंद्रगुप्त के समय में आरंभ हुई थी, पूर्णता को पहुँच गई। इसके समय के राज्य-विस्तार, भारतीय साम्राज्य में सम्मिलित भूखंड और देश की राजनीतिक स्थिति आदि अपनी मौर्य्यकालीन पूर्णता पर पहुँच चुकी थी। अतः इसके इतिहास में हमें मौर्य्यकालीन भारत की स्थिति का पूरा पता चल जायगा।

अशोक के राज्य का विस्तार—उसकी साम्राज्य-सीमा—उसकी शासन-प्रणाली आदि सभी का पता उसके स्तंभलेखों

---

* यह केवल अनुमान है। सं०

† बिंदुसार ने, पुराणों के अनुसार, पचीस वर्ष पर्यंत राज्य किया। उसको केवल तक्षशिला में असंतोष का प्रतिकार करना पड़ा था। सं०

तथा शिलालेखों से लगता है। 'अतः हम पहले भारतीय साम्राज्य पर ही दृष्टि डालते हैं।' अशोक के शिलालेख प्रायः उसके सम्राज्य की सीमा पर लगे हुए मालूम होते हैं। इसकी विवेचना करने के पूर्व हमें देखना है कि वे कहाँ कहाँ मिलते हैं। यदि पूर्व से पश्चिम की ओर चला जाय और शिलालेखों के स्थान पर दृष्टि डाली जाय तो मालूम हो जायगा कि बंगाल की खाड़ी के निकट, अशोक के साम्राज्य के दक्षिण-पूर्वीय भाग पर, चतुर्दश शिलालेख की दो प्रतिलिपियाँ मिलती हैं। इनमें से एक तो भुवनेश्वर के दक्षिण में पुरी जिले में है और दूसरी मदरास प्रांत के गंजाम जिले में है। ये दोनों शिलालेख विशेष रूप से कलिंग प्रांत के लिये खुदवाए गए थे। अशोक ने उस समय कलिंग जीता था जो कि उसके साम्राज्य के दक्षिण-पूर्व भाग में था और संभवतः वहाँ उस तरफ उसके राज्य की सीमा भी रहा होगा।

इसके बाद अशोक का एक (चतुर्दश) शिलालेख उत्तर में देहरादून के निकट कालसी ग्राम में भी मिला है। पश्चिम में पहुँचने पर इस लेख की दो प्रतिलिपियाँ और मिली हैं, एक तो उत्तर-पश्चिमी प्रांत के हजारा जिले में, मानसेरा में, स्थित है, और दूसरी पेशावर जिले के शहबाजगढ़ी स्थान में मिली है। इसके अनंतर दक्षिण-पश्चिम की ओर अग्रसर होने पर एक लेख तो जूनागढ़ (काठियावाड़) में मिलता है तथा दूसरा बबई प्रांत के निकट सोपारा में स्थित है।

दक्षिण में अशोक के ये चतुर्दश शिलालेख नहीं मिलते। पर मैसूर के उत्तर में लघु शिलालेख मिलते हैं* जिनसे दक्षिण में राज्य की सीमा और भारतीय साम्राज्य के विस्तार का पता संभवतः ठीक ठीक लग जाता है।

अशोक ने अपने द्वितीय तथा त्रयोदश शिलालेखों में अपने समकालीन कुछ राजाओं के नाम दिए हैं। इन राजाओं की सूची में अपनी दक्षिणी सीमा के पार के कुछ दक्षिणीय राजाओं के नाम भी दिए हैं जिनमें चोड़, पाण्ड्य, केरलपुत्र, सतियपुत्र, ताम्रपर्णी आदि उल्लेखनीय हैं। फिर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पंचम और त्रयोदश शिलालेखों में उसने अपने कुछ बाह्य प्रांतों का भी उल्लेख किया है जिनमें मुख्य योन, कांबोज, गांधार, रास्टिक (राष्ट्रिक), पेतेनिक, भोज पेतेनिक, आंध्र तथा पुलिंद आदि हैं।

त्रयोदश शिलालेख के एक वाक्य के ठीक ठीक न पढ़े जाने तथा अशुद्ध अर्थ से यह बात समझी जाती थी कि ये अशोकीय साम्राज्य के अर्धस्वतंत्र राजा (Feudatory chieftains) थे, पर गिरिनार में प्राप्त एक लेख के द्वारा अब यह सिद्ध हो चला है कि यह अशोक की परतंत्र प्रजा थी जो उसकी साम्राज्य-सीमा के प्रांतों में रहती थी। पर पहले यह आवश्यक है कि अशोक के राज्य की सीमा निर्धारित करने के लिये उसकी सीमाबंदी

---

* निजाम के राज्य के मस्की नामक स्थान में एक महत्त्व-पूर्ण लेख प्राप्त हुआ है। सं०

का पता लगाया जाय। अतएव अब उपर्युक्त प्रांतों की विवेचना की जाती है। "योन" शायद यूनानी थे। ये अशोक के साम्राज्य के एक भाग में बसे हुए थे, यद्यपि "योन" प्रांत का अभी तक कोई संतोषजनक पता नहीं लगा है*। अशोक के त्रयोदश शिलालेख से पता चलता है कि योन वह प्रांत था जहाँ ब्राह्मण और श्रमण नहीं पाए जाते थे†। इसका तात्पर्य यह है कि अशोक के साम्राज्य में योन ही एक ऐसा प्रांत था जहाँ आर्य्य सभ्यता का विस्तार नहीं हुआ था। ऐसी अवस्था में यह कोई ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ आर्य्य सभ्यता न रही हो, पर वह स्थान अशोक के राज्य के अन्तर्गत रहा हो। डा० भंडारकर का मत है कि रोमन प्रदेशों और सिंधु नदी के बीच के प्रांतों में यूनानियों ने एक उपनिवेश बसाया था जिसमें वे रहते थे; शायद वही अशोक के साम्राज्य का एक अंग रहा हो‡। अपने इसी अनुमान पर उनका कहना है कि शहबाज़गढ़ी, जहाँ कि

---

* संभवतः योन लोग भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रांतों के यूनानी निवासी थे। सं०

† तेरहवें लेख से यवनों में ब्राह्मण, श्रमण आदि का न जाना सिद्ध नहीं होता। अतएव लेखक के अनुमान मात्र से संतोषजनक सिद्धांत निकलना कठिन है। सं०

‡ डा० भंडारकर का अनुमान अत्यंत संदिग्ध और विवादास्पद है। सं०

एक प्राचीन शिलालेख मिला है, अशोक के साम्राज्य के उस सुदूर स्थित प्रांत का एक मुख्य स्थान रहा होगा।

योन प्रांत के बाद उसके साथ ही कांबोज का भी नामोल्लेख है। महाभारत में भी कांबोजों का नाम यवनों के साथ आता है जिनका स्थान पश्चिमोत्तर प्रदेश कहा गया है और जिनका गुण युद्ध-विद्या में अधिक निपुण होना बतलाया गया है। महाभारत में कांबोजों का मुख्य स्थान राजपूर मिलता है। मि० कनिंघम का मत है कि काश्मीर के दक्षिण भाग में राजौरी का स्थान ही महाभारत में उल्लिखित राजपूर* है। यदि यह मत वस्तुतः ठीक है तो कांबोजों का स्थान राजौरी के आसपास, जिसमें (पश्चिमोत्तर प्रांत का) हजारा जिला भी सम्मिलित होगा, राजपूर रहा होगा। मानसेरा उनका मुख्य स्थान हो सकता है जहाँ अशोक के शिलालेखों की एक प्रति मिली है। संभवतः यह सब प्रांत तक्षशिला की सरकार के अधीन रहा होगा जहाँ का शासन किसी राजकुमार के अधीन रहा करता था।

इसके अनंतर रास्टिक (= राष्ट्रिक)-पेतेनिक तथा भोज-पेतेनिक का भी उल्लेख अशोक ने अपने धर्म-लेखों में किया है।

---

* कनिंघम का अनुमान योनश्वाना की यात्रा-विवरण पर निर्भर है। यद्यपि यह प्रायः स्पष्ट जान पड़ता है कि कांबोज भारत के उत्तर-पश्चिम में था, परंतु निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। रीज डेविड का कथन है कि कांबोजों की राजधानी 'द्वारक' थी। सं०

डा० भंडारकर का कहना है कि "अंगुत्तर निकाय" के अनुसार 'रास्टिक पेतेनिक' का अर्थ 'द्वितीय श्रेणी के शासक' होता है, अतएव ये छोटे छोटे शासक रहे होंगे। पर पंचम शिलालेख के आधार पर ये "अपरांतों" की कोटि में रखे गए हैं, अतएव ये कहीं पश्चिम में होंगे। "अपरांता:*" का अर्थ ही यह माना जाता है कि "वे लोग जो पश्चिमीय तीर के वासी हों।" ऐसी अवस्था में उनका विचार है कि ये रास्टिक (=राष्ट्रिक)-पेतेनिक वे ही थे जो पश्चिमीय भारत के गुहालेखों में छोटे छोटे शासकों के रूप में वर्णित हैं और जो मराठे हैं† तथा जिनके अधिकार में पूना तथा निकटवर्ती महाराष्ट्र प्रांत के कुछ जिले थे। ये ही गुहालेख महाभोजों का भी नाम बतलाते हैं जो वर्तमान थाना और कोलाबा के ज़िलों में (जो बंबई प्रांत में हैं) शासन करते थे। ये भी द्वितीय श्रेणी के शासक थे। ये महाभोज ही संभवत: अशोक के धर्मलेखों में बतलाए हुए भोज-पेतेनिक होंगे जो अपरांतों की कोटि में गिने गए हैं। प्राचीन भारत में अपरांत का मुख्य स्थान और उसकी राजधानी "शूपरिक" थी जो वर्तमान में सोपारा के नाम से विख्यात है और जो थाना जिले में स्थित है। यहाँ भी अशोक के चतुर्दश शिलालेख की प्रतिलिपि प्राप्त हुई है।

* अपरांत शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। पहला तो अजित पश्चिमोत्तर प्रांत के निवासी। दूसरा दक्षिण का अपरांत प्रदेश। सं०

† संभव है, परंतु सिद्ध नहीं। सं०

और दक्षिण की ओर बढ़ने पर आंध्र देश आता है। वर्तमान काल में गोदावरी और कृष्णा के मध्य की भूमि आंध्र देश के नाम से विख्यात है। पर प्राचीन काल में भी इनका यह स्थान था वा नहीं, इसमें मतभेद है। बौद्ध साहित्य के किसी जातक के द्वारा आंध्रों का मुख्य स्थान तेलवाहा नदी पर "आंधपुर" के नाम से विख्यात मिलता है। डा० भंडारकर के मत से तेलवाहा ही तैलंगिरि है जो मद्रास और मध्य प्रांत की सीमाओं को अलग करता है। यदि यह बात ठीक है तो प्राचीन काल में आंध्रों का स्थान मद्रास प्रांत के विजगापट्टम के ज़िले में रहा होगा। मेगास्थिनीज के वर्णन से ज्ञात होता है कि आंध्रों की संख्या और उनकी सैनिक शक्ति मौर्य्य साम्राज्य के अंदर आने के पूर्व बड़ी विशाल थी। ऐसी अवस्था में आंध्रों का देश बहुत बड़ा तथा विस्तृत रहा होगा। अतः संभव है कि आंध्रों का देश वर्तमान निज़ाम के देश के दक्षिण भाग तथा वर्तमान कृष्णा और कावेरी के मध्यस्थ जिलों तक विस्तृत रहा हो।

इन्हीं आंध्रों के साथ ही साथ अशोक के त्रयोदश शिलालेख में पुलिंदों (पारिंद, गिरनार शिलालेख १३ 'पालद' कालसी) का भी नाम आता है। पुराणों में पुलिंदों का नाम, जो दक्षिण के वासी थे, विंध्यमूल में मिलता है। ऐसी अवस्था में अशोक के पुलिंदों का स्थान मध्य प्रांत का जबलपुर जिला हो सकता है जिसमें रूपनाथ भी शामिल है और जहाँ लघु शिलालेख की एक प्रतिलिपि मिली है।

चतुर्दश शिला-लेखों की एक यह विशेषता है कि ये लेख अशोक के साम्राज्य के उन भागों में मिलते हैं जो या तो सीमा के प्रांत हैं या जो उसके निकट हैं। दूसरी बात इनमें यह है कि प्रायः ये चतुर्दश शिलालेख मुख्य स्थानों में प्राप्त होते हैं और लघु शिलालेख उन स्थानों में प्राप्त होते हैं जो अशोक के साम्राज्य को अन्य स्वतंत्र अथवा अर्धस्वतंत्र राज्यों से अलग करते हैं* ।

धौली† और जौगढ़‡ में जो चतुर्दश-शिलालेख प्राप्त हुए हैं और जो दक्षिण-पूर्व की दिशा में स्थित हैं, निस्संदेह तोसली और समापा का दिग्दर्शन कराते हैं जो उस दिशा के विजित कलिंग प्रांत के मुख्य स्थान थे।

इन लेखों की तीसरी प्रति जूनागढ़ में प्राप्त हुई है जो प्राचीन गिरनार के स्थान पर स्थित है तथा जो सुराष्ट्र का मुख्य स्थान था। इसी प्रकार एक चौथी प्रतिलिपि सोपारा में मिली है जो अपरांत प्रांत का मुख्य स्थान था, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। इस प्रकार ये चार स्थान तो, निर्विवाद ही सिद्ध

---

* चाहे स्थूल रूप में यह कथन ठीक हो, परंतु सहसराम और बैराट के शिलालेख लेखक के कथन में संदेह उत्पन्न करते हैं। सं०

† धौली उड़ीसा में भुवनेश्वर से सात मील पर एक गाँव है। संभवतः तोसली नगर इसी के समीप रहा होगा। सं०

‡ मद्रास प्रांत में गंजाम नगर से १८ मील पर है। संभवतः समापा नगर भी इसी के पास बसा होगा। सं०

है कि, उन विशेष प्रांतों के मुख्य स्थान थे और वहाँ अशोक के चतुर्दश शिलालेख की प्रतिलिपि मिलती है। ऐसी अवस्था में कोई कारण नहीं है कि यह विश्वास न कर लिया जाय कि किसी अन्य तीन प्रांतों के शहबाजगढ़ी* मानसेरा† और कालसी‡ भी तीन मुख्य स्थान रहे हों। शहबाजगढ़ी तो, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, योन प्रांत का मुख्य स्थान अनुमान किया जा सकता है। अतएव संभव है कि भविष्य के अंधकारमय गड्ढे में कहीं कालचक्र द्वारा ज्योति पहुँच जाय और मानसेरा और कालसी भी निस्संदेह रूप से मुख्य स्थान ज्ञात हो जाय

जैसा कि कहा जा चुका है, लघु शिलालेख प्राय: ऐसे स्थानों में स्थापित किए गए मालूम होते हैं जहाँ से अशोक के साम्राज्य और अन्य राज्यों की सीमा अलग होती थी। दक्षिण में अशोक के राज्य की सीमा निर्धारित करना कठिन ज्ञात होता है, पर संभवत: वह कहीं मैसूर के उत्तर तक ही रही होगी; क्योंकि अशोक द्वारा ही निर्दिष्ट चोड, पांड्य, केरलपुत्र, सतियपुत्र आदि राज्यों का विस्तार वर्त्तमान ट्रावंकोर,

---

* पेशावर जिले से चालीस मील उत्तर-पूर्व यह स्थान है। सं०

† पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के हजारा जिले में एक तहसील है। सं०

‡ संयुक्त प्रदेश के देहरादून जिले में यमुना और टोंस के संगम पर है। सं०

कुर्ग, मलाबार, दक्षिण कनारा तथा मैसूर के कुछ उत्तर-पश्चिम के हिस्से समझे जाते हैं। अतः शायद इसी कारण से वहीं लघु शिला-लेखों की तीन प्रतिलिपियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

इसी प्रकार त्रयोदश शिला-लेख में अटवी (आटव्य) का भी नाम मिलता है जो अनुमान किया जाता है कि अशोक के पूर्णतया अधीन नहीं था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि संभवतः अटवी* का राज्य अशोकीय साम्राज्य के पूर्व उडीसा में रहा होगा और कदाचित् इसी कारण से दो लघु शिला-लेख रूपनाथ† और सहसराम में पाए जाते हैं जो अटवी देश की पूर्वीय और पश्चिमीय सीमा पर रहे होंगे। इस प्रकार मौर्य्य काल की पूर्ण उन्नति के समय में भारत के राजनीतिक साम्राज्य का हमें दिग्दर्शन हो जाता है। हमें ज्ञात होता है कि अशोकीय काल में भारतीय साम्राज्य के उत्तर विस्तार में हिंदूकुश, मकरान, सिंध, कच्छ, काश्मीर, नैपाल तथा सारा भारत (यदि उसमें से सुदूर दक्षिण प्रांत जिसमें चोड, पांड्य, केरल आदि देश थे, निकाल दिया जाय) सम्मिलित था। पश्चिम में काठियावाड़ आदि सभी देश समुद्र तक उसके अधीन थे। पूर्व में आसाम तक साम्राज्य का विस्तार था। आसाम अशोकीय साम्राज्य में सम्मिलित

* अटवी और अटवियों का अर्थ विद्वानों ने वननिवासी किया है। क्या वह कोई राज्यविशेष था ? सं०

† रूपनाथ जबलपुर जिले में है। सं०

नहीं मालूम होता, क्योंकि जब ह्यु येनस्यांग आया तो उसने आसाम में बौद्ध धर्म का प्रचार नहीं पाया। संभव है, इसका कारण यही हो कि आसाम अशोक के राज्य के अंतर्गत न होने के कारण उसके धर्म-प्रचार के क्षेत्र से बाहर रहा हो।

अशोक के धर्मलेखों से हमें ज्ञात हो गया है कि मौर्य्य काल में भारतीय राजनीतिक साम्राज्य की स्थिति क्या थी और भारत में उसके समकालीन अन्य राज्य और देश कौन कौन से थे। इन्हीं से हमें यह भी पता चलता है कि एक बलवान् शासक के हाथ में पड़कर भारतवर्ष में एकछत्र-राष्ट्र उस समय स्थापित हो चुका था जब कि संसार की अन्य जातियों में सभ्यता की झलक भी नहीं पहुँची थी।

इसके अनंतर हमें यह देखना है कि इतने बड़े साम्राज्य का शासन किस प्रकार होता था, उस समय में भारतीयों को राजनीति शास्त्र का कितना ज्ञान था, उनकी राजनीतिक संस्थाओं की क्या दशा थी, उनके शासन के मुख्य मुख्य सिद्धांत क्या थे, किन किन सिद्धांतों पर शासन की नींव स्थित थी, मौर्य काल के पूर्व किस प्रकार के विचार थे और पुनः उस काल में वे किस साँचे में ढले। भारत के राजनीतिक इतिहास में इन विषयों की विवेचना करना अत्यावश्यक है; क्योंकि आज सारा पश्चिमीय संसार* भारतीय सभ्यता के

* यह विचार किसी समय था, परंतु अब बीसवीं शताब्दी में ऐसा नहीं कहा जा सकता। सं०

अंतर्गत धार्मिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान और उसकी उन्नति का एक अंश मानते हुए भी इस बात को अस्वीकार करता है कि भारतीयों के हृदय में कभी राजनीति शास्त्र के विवेचन की भी भावना उठी थी और उसे वे एक स्वतंत्र वैज्ञानिक रूप में संसार को आज से दो हजार वर्ष पूर्व दे चुके थे। अतएव अब हम आगे भारतीय-प्राचीन शासन प्रणाली और राजनीतिक विचारों के इतिहास पर दृष्टि डालने की चेष्टा करते हैं।

मौर्य्य काल में भारतीय राजनीति विज्ञान और शासन-प्रणाली

भारतवर्ष की सभ्यता की प्राचीनता संसार मानता है। उसकी सभ्यता, उसकी शालीनता, उसकी महत्ता, जीवन के प्रत्येक अंग में प्राप्त की हुई उसकी पूर्णता, धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक विषयों में बढ़े हुए विचार, सांसारिक तथा पारलौकिक जीवन में एकाग्रता स्थापित करके जीवन-नौका को प्रवृत्ति की प्रबल-धारा में खेने का आदर्श प्रयत्न आदि ऐसे विषय हैं जिन पर दृष्टि डालने पर भारत के प्राचीन आर्य्यों की आर्य्यता प्रत्यक्षतः सिद्ध हो जाती है। आज इसी का यह परिणाम है कि क्षण क्षण में काल के चक्र में पड़कर सारा संसार बदलता चला जा रहा है, संसार में न जाने कितनी नई सभ्यताएँ उत्पन्न हो गईं और हो रही हैं, तथा न जाने कितनी प्राचीन सभ्यताओं का लोप हो गया और हो रहा है, पर फिर भी उनके प्रबल चपेटों के सहने पर, अगणित विपत्तियों

कें आने पर, संकट का सामना करते हुए भारत की प्राचीन सभ्यता किसी न किसी रूप में स्थित है, और वह आज भी संसार के सामने अपना प्राचीन साहित्य—अपनी प्राचीन गौरव-पूर्ण महत्ता के साथ—उपस्थित कर रहा है। इसी प्राचीन गौरव के कारण, इसी अपनी प्राचीनता को देखकर, अपने पूर्व के इतिहास को उपस्थित पाने के कारण भारतीय प्रकृति की यह विशेषता है कि वह शीघ्रता से परिवर्तित होना नहीं जानती। इस बात में हानि मानते हुए भी हम यह जानते हैं कि इसी प्रकृति, इसी स्वभाव के वशीभूत होने के कारण आज भी भारतीय सभ्यता की झलक कुछ न कुछ अवशिष्ट रह गई है।

आज हम भारतीय सभ्यता के उस अंग पर दृष्टि डालना चाहते हैं जिसे संसार वर्तमान सभ्यता का एक मुख्य अंग मानता है और कसौटी पर कसने के बाद आज का सभ्य संसार जिसे अपनी पाँत में मिलाता है और जिसकी गणना सभ्य संसार में करता है। भारतीय सभ्यता के विषय में हमारे धन्यवाद के पात्र और आदर-भाजन विदेशी विद्वानों का यही मत रहा है कि भारत में धर्म्म और अध्यात्म का ही इतना प्राधान्य रहा है कि उसने इन्हीं दोनों विषयों को जीवन में मुख्य स्थान दिया है। भारत केवल पारलौकिक ज्ञान देने का कार्य्य करता रहा है, जीवन की अन्य ग्रंथियों के सुलझाने में वह प्रयत्नशील नहीं रहा है, उसका उसे

अधिक ज्ञान नहीं था। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् प्रो० मैक्समूलर का कहना है—"The Indian never knew the feeling of nationality and his heart never trembled in the expectation of national applause......The only sphere where the Indian mind finds itself at liberty to act, to create and to worship was the sphere of religion and philosophy." अर्थात् "भारतीयों को न तो कभी राष्ट्रीयता की भावना थी और न कभी राष्ट्रीय उन्नति की पवित्र आकांक्षा के लिये उनकी हृत्तंत्री बजी। भारतीय मस्तिष्क—भारतीय विचार—केवल धार्मिक तथा आध्यात्मिक संसार में ही परिमित रह गए।" इतना ही नहीं, उनका कहना तो यहाँ तक है—

"The Hindus were a nation of philosophers. Taken as a whole history supplies no second instance where the inward life of the soul has completely absorbed all the practical faculties of a whole people, and in fact, destroyed those qualities by which a nation gains its place in history." "अर्थात् भारतीय लोग एक वेदांतियों की जाति हैं। सारे संसार के इतिहास में भारतवर्ष इस विषय में अद्वितीय है कि सारे राष्ट्र की व्यावहारिकता पूर्ण रूप से आंतरिक जीवन में लुप्त कर दी गई हो—अर्थात् वास्तव में, सारे राष्ट्र में उस गुण

का अभाव हो जिसके द्वारा कोई जाति संसार के इतिहास में स्थान प्राप्त करती है।" यह मत पश्चिम के उस विद्वान् का है जो भारतीय वैदिक काल का एक प्रामाणिक विद्वान् माना जाता है, और जिसकी लेखनी के कारण भारत को बड़ा लाभ पहुँचा है। पर आश्चर्य इस बात पर है कि इन मान्य विद्वान् का मत चाहे आज के भारत के ऊपर किसी प्रकार प्रयुक्त हो जाय, पर यह सिद्धांत उस काल के लिये तो, जिस पर प्रोफेसर साहब का कथन प्रामाणिक माना जाता है, कुछ सत्य नहीं ज्ञात होता। यह ठीक हो सकता है कि आज का भारत कालचक्र के कारण—अथवा किसी अन्य कारण से—इस अवस्था को प्राप्त हो गया हो कि उसका स्थान इतिहास में रहने के योग्य न हो, पर प्राचीन भारत के विषय में उसी काल के इतिहास के एक विशेषज्ञ द्वारा कही हुई यह बात सत्य तथा युक्तियुक्त नहीं ज्ञात होती।

उनके ये विचार तो सर्वथा ठीक हैं कि भारतीयों की एक विशेषता यह है कि उनकी सभ्यता अध्यात्म तथा धार्मिकता पर स्थित है। जहाँ तक इस विचार का संबंध है, कोई मतभेद नहीं हो सकता। पर उनके ये विचार (कि भारतीयों की विचारधारा में राष्ट्रीयता और शासन-विज्ञान को कोई स्थान प्राप्त नहीं था) सत्य प्रतीत नहीं होते; अर्थात् भारतीय सभ्यता ने, भारतीय विचारकों ने जीवन के उस अंग का, जिसके द्वारा कोई राष्ट्र संसार के इतिहास में स्थान प्राप्त

करता है, कोई विचार ही नहीं किया। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि भारत में राजनीति-विज्ञान का कोई भाव नहीं था; अतः उसका संसार के राजनीतिक इतिहास में कोई स्थान नहीं है। यह कथन सर्वथा सत्य और उपयुक्त नहीं जँचता।

इस विचार की महत्ता ईश्वर की अनुकंपा और कालचक्र के प्रभाव से धीरे धीरे घट रही है। आज संसार को धीरे धीरे इस बात का ज्ञान हो रहा है कि जैसे भारत ने धर्मशास्त्र और अध्यात्म में उस प्राचीन काल में ही—जब कि सारा संसार प्रकृति के प्राकृतिक रूप में सो रहा था—विशेषता प्राप्त की थी, उन्हें (धर्म तथा अध्यात्म को) एक मुख्य और पूर्ण विज्ञान की सीमा तक पहुँचाया था, उसी प्रकार वह सांसारिक विज्ञान के मुख्य अंग राजनीति-विज्ञान में भी पूर्ण रूप से प्रवेश कर चुका था और उसे भी एक सीमा तक पहुँचाने में उसको सफलता प्राप्त हो चुकी थी।

आज इस विषय की विवेचना आरंभ हो गई है और बहुत से भारतीय विद्वानों के परिश्रम और खोज से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि भारतवर्ष में राजनीतिक ज्ञान का अभाव नहीं था, वरंच वह ज्ञान एक सीमा तक पहुँच चुका था। वर्तमान समय में कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के प्रकाश में आ जाने के कारण और विद्वानों द्वारा उसकी समालोचनात्मक विवेचना होने के बाद आज हम यह मान लेने में किसी प्रकार भी शंकित नहीं होते कि भारतीय सभ्यता ने राजनीति-विज्ञान

को भी एक अलग और स्वतंत्र शास्त्र के रूप में ला रखा है। उस विषय में प्राचीन आर्य विद्वान् यथेष्ट विशेषता प्राप्त कर चुके थे तथा कहीं कहीं तो वर्त्तमान संसार के राजनीतिक सिद्धांतों और विचारों से भी आगे बढ़ गए थे।

कौटिल्य मौर्य्य सम्राट् चंद्रगुप्त के मंत्री थे। उनके 'अर्थशास्त्र' द्वारा हमें जहाँ मौर्य्यकालीन राजनीति संबंधी विचार, शासन प्रबंध आदि का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त होता है, वहाँ इस विषय का भी दिग्दर्शन हो जाता है कि कौटिल्य के बहुत पूर्व से ही भारतवर्ष के विद्वानों ने राजनीति संबंधी विचारों को उनकी सीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न किया था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ही इस बात का उल्लेख है कि उनके पूर्व कम से कम राजनीति-शास्त्र के सात बड़े बड़े विद्वान् सुविचारक तथा लेखक हो चुके थे। इसके साथ ही चार परंपरागत विचारक राजनीतिज्ञों की विचार धारा (The four schools of politics) भी देश में वर्त्तमान थी। इस बात से प्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध हो जाता है कि राजनीति-विज्ञान की एक अलग शाखा ही थी, जिसकी उन्नति हुई थी, जिसका विवेचनात्मक अध्ययन होता था और जो कौटिल्य के काल के पूर्व से ही देश में वर्त्तमान थी।

कौटिल्य के पूर्व—बहुत पूर्व—ही राजा की उत्पत्ति, शासन के विभाग, शासन के प्रबंध, राजा के नियंत्रण आदि सभी विषयों पर विचार हो चुका था जिसका उल्लेख कौटिल्य ने भी किया है।

इस विषय में कई सिद्धांत थे, कई प्रकार से विचार किया जाता था कि राजा की उत्पत्ति* (The theory of State) कैसे हुई और उसके अनुसार राजा के क्या अधिकार हैं।

प्राचीन भारत के राजनीतिज्ञों ने राजतंत्र की आवश्यकता बतलाते हुए मुख्य बात यह कही है कि 'मानवी प्रकृति में मात्स्यन्याय का समावेश है'। यही बात कौटिल्य ने भी राजतंत्र के वर्णन में लिखी है कि यदि कोई राजा न होगा, यदि कोई शासन करनेवाला न होगा, तो यही फल होगा कि जिस तरह छोटी छोटी मछलियों को बड़ी मछलियाँ अपना भोजन बनाती हैं, उसी प्रकार छोटों के ऊपर बड़ों की जीविका चलेगी। इसी मात्स्यन्याय के निवारणार्थ राजोत्पत्ति का सिद्धांत मनु, महाभारत, रामायण तथा राजनीति संबंधी अन्य ग्रंथों में मिलता है।

कौटिल्य ने प्राचीन सिद्धांत का वर्णन करते हुए राजोत्पत्ति के विषय में यह कथा लिखी है कि पहले कोई राजा नहीं था, देश अराजक था, पर इसी अराजकता के दुःखों से ऊब-कर लोगों ने वैवस्वत मनु को राजा चुना और वे उन्हें अन्न की उत्पत्ति का $\frac{1}{6}$ (षट्भाग) और व्यापारिक लाभ का $\frac{1}{10}$ (दशमांश) देने लगे जिसके द्वारा वे प्रजा के दुःखों को दूर कर सकें और असहायों को, निर्बलों को, बलवानों तथा अत्याचारियों से बचा

---

* राजा की उत्पत्ति के लिये अँगरेजी में Origin of Kingship कहना ठीक होगा। सं०

सकें। इस कथा से यही तात्पर्य निकलता है कि प्राकृतिक अवस्था में परिवर्तन हुआ और वह प्राकृतिक स्थिति संग्राम और लूट-मार की स्थिति में परिवर्तित हो गई*। अत: मनुष्यों ने इससे ऊबकर इस बात को स्वीकार किया कि अपनी स्वतंत्रता एक आदमी के हाथ में देकर अपनी रक्षा करें। यह बात हाब्स† के उस सिद्धांत से मिलती जुलती है जिसमें उन्होंने समाज का राजा को राज्याधिकार दे देने का प्रतिपादन किया है। बल्कि इस विषय में भारतीय सिद्धांत हाब्स से एक कदम और आगे बढ़ जाता है कि इसके अनंतर राजा ऐसे नियमों द्वारा बँधा था कि स्वेच्छाचारी और अनियंत्रित नहीं हो सकता था। कौटिल्य ही राजतंत्र का पूर्ण समर्थक था। उसने यह लिखा है कि राजा दास है, प्रजा का, समाज का। वह देश की जनता का वेतन-भोगी सेवक है। उसका कर्त्तव्य है प्रजा की रक्षा करना, उसे सुख देना तथा उसे नष्ट होने से बचाना। इसी कारण कौटिल्य ने लिखा है कि अगर किसी की चोरी हो जाय और चोर पकड़ा न जाय, प्रजा का धन अपहृत हो जाय और उसे न मिले, तो राजा अपने जेब से उसका दंड दे; क्योंकि

* प्राकृतिक अवस्था कल्पना मात्र है; अतएव अपनी अपनी कल्पना के अनुसार लोगों ने उसकी भिन्न भिन्न परिभाषा की है। कौटिल्य के कथन से प्राकृतिक अवस्था का ठीक पता नहीं चलता। सं०

† टामस हाब्स एक अँगरेजी तत्त्ववादी (सन् १५८८ से १६७९) हो गया है। सं०

वह उसके लिये जिम्मेदार है। इसी के लिये वह प्रजा से षष्ठमांश अथवा दशमांश प्राप्त करता है। उसका वेतन शास्त्रसम्मत था। वह प्रजा की रक्षा करने और उसकी हानि की पूर्त्ति करने को बाध्य था। यदि वह प्रजारक्षण जैसे कार्य्य की पूर्ति में किसी प्रकार की लापरवाही करता तो उसकी क्षतिपूर्त्ति उसे अपने जेब से दंड रूप में करनी पड़ती थी।

इसी प्रकार प्राचीन भारत के राजनीतिज्ञों में राजा के ईश्वर-दत्त अधिकार (Divine right) के सिद्धांत के प्रतिपालक भी थे। मन्वादिक "महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति" के माननेवाले थे। कौटिल्य भी राजतंत्र का पक्का समर्थक था। फिर भी ऐसे राजाओं को स्वतंत्र होने अथवा मनमाना कार्य करने की आज्ञा उन राजनीतिज्ञों ने नहीं दी थी। मौर्य काल से प्राचीन भारत में उस काल का आरंभ होता है जब धीरे धीरे राजा की शक्ति बढ़ रही थी, सभी शक्तियाँ, सभी अधिकार धीरे धीरे राजा के हाथ में केंद्रीभूत हो रहे थे। ऐसे काल में कौटिल्य ऐसा राजनीतिज्ञ भी वर्तमान था जो राजतंत्र का पूर्ण समर्थक और भारी हिमायती था। फिर भी उसने राजाओं के नाश का कारण बतलाते हुए लिखा है कि उनके नाश का सब से बड़ा कारण वासनाओं और आकांक्षाओं में बह जाना है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, लालसा आदि दुर्गुण, जिनके वशीभूत होकर राजा प्रजा के ऊपर अन्याय कर सकता है, जिनके कारण राजा अपने कर्तव्य-पालन का ध्यान न रख स्वार्थी हो

जाता है, उन्हीं को कौटिल्य राजा के नाश का हेतु समझता है। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि राजा चाहे कितना ही बलवान् और सशक्त क्यों न हो, अगर दुष्ट है तो उस पर पहले आक्रमण कर देना चाहिए। उसमें सफलता अवश्य मिलेगी, क्योंकि उसकी प्रजा उसके नाश की इच्छुक होगी और वह शत्रु से अवश्य मिल जायगी। यदि कोई निर्बल भी है, पर अगर वह धर्मात्मा है, प्रजा-पालक है, तो उस पर समझ बूझकर आक्रमण करना चाहिए; क्योंकि लोकमत, सारी प्रजा, सारे देश का बल उसका समर्थक होगा, उसका पोषक होगा, उस पर अपने प्राण निछावर करेगा, अतएव उसे जीतना टेढ़ी खीर होगी। यह भाव—जब मौर्य राज्य उत्थान पा रहा था—देश के उस राजनीतिज्ञ का था जो राजतंत्र को पुष्ट करने में लगा था। ऐसी अवस्था में प्राचीन भारत की राजनीति का, उसके सिद्धांत का, उसके विचार का, उसकी भावना आदि का संक्षेप में दिग्दर्शन हो जाता है।

इस समय यहाँ इस बात की विवेचना करने का अवसर नहीं है कि अति प्राचीन काल में—वैदिक काल में ही—भारत की राजनीतिमत्ता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विषय में उसके विचार, उसकी शासन-संबंधी योग्यता और उसकी प्रणाली क्या थी और इसके अनंतर धीरे धीरे उसका परिवर्तन किस प्रकार ब्राह्मण और पौराणिक काल में हुआ तथा मौर्य्य काल में वह किस स्थिति पर पहुँची।

परंतु संक्षेप में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीन वैदिक काल से ही भारतीय राजनीति में उच्चता, महत्ता, स्वतंत्रता आदि के विचारों का प्रचुर मात्रा में समावेश था। राजा के हाथ में जो शक्ति थी, वह केवल प्रजा के परिपालन और दुष्टों के दमन के लिये थी। प्राचीन समय में राजा का निर्वाचन होता था; और उसमें राजा कर्तव्य-पालन, और प्रजाहित के लिये प्रतिज्ञा करता था। प्रजा राजा को अपनी उन्नति, अपनी रक्षा के लिये चुनती थी। उदाहरणत: इस बात का पता अथर्ववेद के उस मंत्र से चलता है जिसमें प्रजा राजा को चुनते समय उससे कहती है— "त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमा: प्रदिश: पंचदेवी: वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रमस्व ततो न उग्रो न भजा वसूनि।" अर्थात् "ये सभी लोग तुमको चुनते हैं। तुम राष्ट्र के ऊँचे स्थान (सिंहासन) पर बैठकर प्राकृतिक धन का वितरण हम सभी को करो।" पर इसके बाद धीरे धीरे राष्ट्र की शक्ति राज्य के प्रधान के हाथों में केंद्रस्थ होने लगी और शासक की शक्ति बढ़ने लगी। पर फिर भी राजा का अर्थ, उसका कर्तव्य, उसकी शक्ति, प्रजा के सुख के लिये, उसके हित के लिये तथा उसकी सहायता के लिये परिमित थी। यथा—"रंजिताश्च प्रजा: सर्वे तेन राजेति शब्दते" या "राजा प्रकृतिरंजनात्" के भाव देश के वायुमंडल में व्याप्त थे और ये ही सिद्धांत, ये ही स्थितियाँ कौटिल्य के काल में भी थीं। जैसा कि ऊपर लिखा

जा चुका है, कौटिल्य ने भी राजा को नियंत्रित—प्रजा का, राष्ट्र का—सेवक बताया है। कौटिल्य का मत था—

"प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियहितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ॥"

इन बातों को देखते हुए यह निस्संदेह और निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि भारतीयों में न केवल आध्यात्मिकता तथा धार्मिकता ही थी बल्कि उनमें राजनीति-ज्ञान की प्रौढ़ता, राष्ट्र का ज्ञान, शासन के सिद्धांत आदि राजनीतिक विषयों की पूर्ण मर्यादा थी—उसकी पूर्णता थी, उसमें पूरी व्यावहारिकता थी और उसका अलग एक शास्त्र के रूप में अध्ययन होता था। इसी उपर्युक्त विवेचन से हमें संक्षेप में यह भी ज्ञात हो गया है कि मौर्य काल के आरंभ में भारतीय जन-समाज में राजा का क्या स्थान हो चला था और उसके क्या कर्त्तव्य थे। राजा के हाथ में तमाम राष्ट्र की शक्ति धीरे धीरे संघटित तथा केंद्रस्थ हो रही थी, फिर भी राजा की शक्ति कहाँ तक थी और सिद्धांततः वह क्या समझा जाता था, यह लिखा जा चुका है। अब हमें मौर्यकालीन राजनीतिक संस्थाओं तथा राजनीतिक जीवन के विषय में भी कुछ कहना है।

मौर्य काल में—उसके आरंभ, मध्य तथा कहीं कहीं बाद भी—देश में दो प्रकार के शासन-प्रबंधों का वर्णन मिलता है। एक तो राजतंत्रात्मक तथा दूसरा अराजात्मक बहुसम्मत-

तंत्र अथवा प्रजातंत्र राजशासन-प्रणाली। इन दोनों प्रकार की शासन-प्रणालियों का वर्णन कौटिल्य ने भी किया है, जिससे ज्ञात होता है कि ये मौर्य काल में भी स्थित थीं।

अब हम पहले अराजात्मक बहुसम्मत तंत्रों पर विचार करते हैं। इन प्रजासम्मत या बहुसम्मत राज्यों के विषय में बहुत दिनों तक भारतीय इतिहास-लेखकों को कोई ज्ञान नहीं था—वे अंधकार में थे। आज भी इन राज्यों के शासन के विषय में, इनकी प्रणालियों के विषय में, अधिक ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है, पर ये धीरे धीरे प्रकाश में लाई जा रही हैं और आशा की जाती है कि भविष्य में कभी इनका काफी पता अवश्य ही लग जायगा।

वैदिक काल में भी वैराज्य का नाम आया है जिसका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में भी मिलता है। पर इसके विषय में अधिक ज्ञात नहीं। बौद्ध काल में लिच्छवि तथा मल्ल आदि का पता चलता है, जिनका वर्णन जातकों तथा बौद्ध साहित्य में आया है और वे बहुसम्मत अथवा प्रजातंत्र शासन-प्रणाली-वाले देश समझे जाते हैं, यद्यपि उनकी शासन-प्रणाली के विषय में पूर्ण रूप से कुछ ज्ञात नहीं है।

जातकों में ऐसी कथा है कि अजातशत्रु ने बुद्ध भगवान् से लिच्छवियों के नाश का उपाय पूछा। बुद्ध भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा था कि जब तक इनकी ये सार्वजनिक संस्थाएँ रहेंगी, आपस में मतभेद न होगा, ये किसी कार्य को

बहुमत से करेंगे, प्राचीन प्रथा और अपने नियमों के साथ कार्य करेंगे, बड़ों का आदर करेंगे—उनकी इज्जत करेंगे—तब तक उनका पतन नहीं होगा बल्कि वे और भी उन्नति करेंगे। इस प्रकार की और कथाओं से ज्ञात होता है कि ये संस्थाएँ उस काल में भी थीं।

इसके अनंतर मौर्य साम्राज्य के उत्थान-काल में ऐसी संस्थाएँ और इस प्रकार की शासन-प्रणाली द्वारा शासित देश मौजूद थे, इसका प्रमाण यूनानी लेखकों के द्वारा भी मिलता है। सिकंदर के आक्रमण-काल में पंजाब में ऐसी बहुत सी शासन-प्रणालियों का वर्णन यूनानियों के द्वारा मिलता है जो प्रजातंत्र-वादिनी थीं। कुछ इतिहासज्ञों का कहना है कि पंजाब के उस समय के जिन राज्यों (States) का वर्णन यूनानी इतिहास लेखक प्रजातंत्र के रूप में करते हैं, वे वास्तव में केवल ग्रामीण पंचायतें मात्र थीं। पर इन लोगों के विचार ठीक नहीं प्रतीत होते; क्योंकि यूनानी लोग सभ्य पुरुष थे, वे स्वयं राजनीतिज्ञ थे। वे प्रजातंत्र अथवा राजतंत्र या अन्य किसी प्रणाली के प्रकार से अनभिज्ञ और अपरिचित नहीं थे*। अतः उनके वर्णन को झूठा नहीं कहा जा सकता। साथ ही यूनानी लोग उन देशों

---

* परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि यूनानी लोगों को नागरिक प्रजातंत्र ही का ज्ञान था। विस्तृत राज्य के प्रजातंत्र का उन्हें ज्ञान न था। अतएव संभव है कि भारतीय प्रजातंत्रों का वर्णन केवल ग्राम अथवा नगर के लिये ही प्रयुक्त किया गया हो। सं०

से लड़े थे, उनसे संधि की थी, जिनकी शासन-प्रणाली का वे वर्णन करते हैं; ऐसी अवस्था में वे इतनी मोटी भूल नहीं कर सकते कि ग्रामीण पंचायतों को प्रजातंत्रवाला देश कह दें। इसके सिवा मेगस्थिनीज तो भारत में बहुत दिनों तक रहा था। उसने यहाँ की सभी बातों पर समुचित तीक्ष्ण दृष्टि डाली थी और तब उनका वर्णन किया था। परंतु उसने भी यहाँ की सरकारों को दो भाग में बाँटा है—एक राजतंत्र और दूसरा प्रजातंत्र। अतः इन बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि मौर्य काल के उत्थान तक देश में ऐसी प्रजातंत्रात्मक सत्ताएँ वर्त्तमान थीं। अब हमें यह देखना है कि मौर्य काल में इनकी स्थिति तथा गति क्या थी।

मौर्य काल में, कौटिल्य के मतानुसार, निम्नलिखित वाक्य से ऐसी संस्थाओं का पता चलता है—"लिच्छवि, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुक्कुर, कुरु पांचालादयो राजशब्दोपजीविनः।" इनमें लिच्छवियों का वर्णन आया है, और इन्हीं लिच्छवियों का वर्णन भगवान् बुद्ध ने अजातशत्रु के सामने भी किया था। इससे यह ज्ञात होता है कि ये प्रजातंत्रात्मक संस्थाएँ थीं। उसमें यह भी लिखा है कि लिच्छवियों के ७७०७ राजा हैं—अर्थात् वे सभी राजा हैं। संभवतः इसी कारण इन जातियों को कौटिल्य ने राजशब्दोपजीवी कहा है, क्योंकि सभी राजा हैं या हो सकते हैं, कोई एक राजा तो है ही नहीं। कौटिल्य से यह भी ज्ञात होता है कि एक साधारण सभा

होती थीं, जो संघ कहलाती थी। इन्हीं साधारण सभाओं में से कुछ मनुष्य चुने जाते थे जो शासन प्रबन्ध (Executive functions) करते थे और जो संघ-मुख्य कहलाते थे। इन संघमुख्यों के विरुद्ध शिकायत साधारण संघ सुनता था और उन्हें दंड भी दे सकता था, यह भी कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र से ज्ञात होता है। अतः मालूम होता है कि शासनप्रबंध समिति साधारण संघ के सामने उत्तरदायिनी थी, जैसा कि आजकल की सभ्य सरकारें हमेशा व्यवस्थापक सभाओं के प्रति उत्तर देने को बाध्य रहती हैं। संघमुख्य वे ही कार्य्य कर सकते थे जो साधारण संघ द्वारा अनुशासित हों। यह नियम उन प्रजातंत्रात्मक संघों का था। वर्तमान सभ्य संसार में शासनप्रबंध समिति (Executive body) को व्यवस्थापक प्रतिनिधि सभाओं (Representative Legislative body) से अधिकार प्राप्त होता है। जैसा कि कौटिल्य ने लिखा है—

"संघमुख्यश्च संघेषु न्यायवृत्तिर्हितः प्रियः। मन्त्रयुक्तजन-स्तिष्ठेत् सर्वचित्तानुवर्तकः"। इससे अधिक इनकी प्रणाली के विषय में ज्ञात नहीं है। संभव है, इसी प्रकार की प्रणाली अन्य राज-शब्दोपजीवी संघों की भी रही हो, या कुछ भेद रहा हो। इनके सिवा कौटिल्य ने कुछ ऐसे राष्ट्रों के नाम दिए हैं जो शायद सैनिक गुण में प्रबल होते हुए प्रजातंत्र प्रणाली काम में लाते थे। यथा—काम्भोज, सुराष्ट्र, क्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः

श्रीयुत के० पी० जायसवाल के मतानुसार ये वैसी प्रजातंत्रात्मक सत्ताएँ थीं जो अपनी प्रजा के खेती करने पर जोर देती थीं, जिससे ये लोग धनी थे और साथ ही शस्त्रविद्या पर इनका अधिक जोर रहा करता था जिस कारण से ये धनवान् और बलवान् दोनों थे। अस्तु; कौटिल्य द्वारा यह पता लगा कि कुछ ऐसी संस्थाएँ भी थीं जो प्रजातंत्रात्मक थीं और मौर्य्य काल में वर्तमान थीं।

परंतु मालूम होता है कि मौर्योत्थान के कुछ काल पीछे इनमें से बहुत सी संस्थाएँ मौर्य्य साम्राज्य में विलीन हो गईं; और जो बच गईं, उनकी कोई बड़ी शक्ति नहीं बच रही। भारत कुछ दिनों तक घोर साम्राज्यवाद में लीन था। इनके मौर्य्य साम्राज्य में लीन होने के दो कारण थे। पहला कारण तो यह था कि सिकन्दर के आक्रमण के समय में पंजाब में बहुत सी छोटी छोटी राजकीय संस्थाएँ थीं जो सिकंदर से लड़ीं और हार गईं। उस काल में बड़ी बड़ी प्रजातंत्रात्मक सत्ताएँ नहीं स्थापित हो सकती थीं। छोटी होने के कारण इनमें उतनी शक्ति न थी कि वे प्रबल आक्रमण सह सकतीं। साथ ही उन्होंने देखा था कि तत्कालीन नंद राजाओं का एक बड़ा साम्राज्य था, जिसके कारण उनके पास एक बड़ी सेना प्रस्तुत थी; तथा उसी कारण सिकंदर को आगे बढ़ने का साहस भी न हुआ था। ऐसी अवस्था में साम्राज्यवाद पर लोगों का विश्वास जम गया और इस प्रकार की बहुत सी संस्थाएँ मौर्य्य साम्राज्य में विलीन हो गईं।

दूसरा कारण, मौर्य्यों की साम्राज्यवादिनी नीति थी। मौर्य्य साम्राज्य के हाथ में बल था ही। साथ ही उसकी यह नीति थी कि इन संस्थाओं को किसी प्रकार मिलाकर साम्राज्य का विस्तार किया जाय। जैसा कि कौटिल्य ने लिखा है, "संघों को जीत लेना ही अच्छा है। पर जो संघ एकमत हैं, एक सूत्र में हैं, उनके साथ मैत्री और सज्जनता का व्यवहार होना चाहिए; क्योंकि उन्हें जीतना कठिन है। और जिनमें जरा मतभेद हो जाय, या मतभेद फैलाया जा सके, उन्हें सेना तथा भेद से जीत लेना चाहिए।" इसी प्रकार की नीति काम में भी लाई जाने लगी जिसके कारण बहुत सी छोटी छोटी प्रजातंत्रात्मक सत्ताएँ मौर्य्य साम्राज्य का शिकार बनीं। कौटिल्य ने उनमें आपस में मतभेद कराने के लिये अनेक उपाय भी ढूँढ़ निकाले थे। उसकी सम्मति थी कि कुछ ऐसे आदमी नियुक्त हों जो संघों के नेताओं में एक दूसरे की बात कहकर झगड़ा लगावें—बड़ों के मुकाबिले में छोटों को खड़ा करके उनमें आपस में द्वेष फैलावें। इतना ही नहीं, यदि हो सके तो मदिरा और स्त्रियों के द्वारा भी उनमें आपस में द्वेष उत्पन्न कराया जाय। इस प्रकार की नीतियों के अवलंबन करने का विचार मौर्य्य राजमंत्री का था जिसके कारण ऐसी बहुत सी संस्थाएँ साम्राज्य में विलीन हो गईं।

इस तरह जब तक मौर्य्य साम्राज्य शक्तिशाली रहा, तब तक उसकी छत्र-छाया में ये राजनीतिक संस्थाएँ रहीं। पर

उनके बल का कुछ पता नहीं चलता। उनमें से बहुत सी उस बृहत् साम्राज्य में लुप्त हो गईं। जब तक मौर्य्य साम्राज्य प्रतिष्ठित था, तब तक इनका पता नहीं चला। बाद में उसके नाश-काल में धीरे धीरे पुनः उनका उत्थान आरंभ हुआ और यौधेय, मालव, वृष्णि, आर्जुनायन, औदुंबर आदि नई नई राजनीतिक प्रजातंत्रात्मक स्वतंत्र संस्थाओं का पता मिलता है।

इसके बाद अब हम यह देखना चाहते हैं कि मौर्य्य काल में राजतंत्र शासन-प्रणाली की क्या स्थिति थी। भारतीय इतिहास में राजतंत्र शासन-प्रणाली पर ध्यान देने से यह बात विदित हो जाती है कि प्राचीन काल में सदा इस बात पर ध्यान रखा जाता था कि कहीं राजा की शक्ति अविच्छिन्न, स्वेच्छा-चारपूर्ण, अनियंत्रित तथा मनमानी न हो जाय। इस बात को रोकने के लिये प्राचीन वैदिक काल में 'समितियों तथा सभाओं' का उल्लेख मिलता है, जिनके हाथ में बड़ा अधिकार था, जिनका राजा के चुनाव में पूरा हाथ होता था और जिनका राजा पर प्रभाव पड़ता था। पर ज्यों ज्यों राजाओं की शक्ति बढ़ती गई, त्यों त्यों इनकी शक्ति घटती गई; और साथ ही साथ उन समितियों तथा सभाओं के रूप में भी परिवर्तन होता गया।

मालूम होता है कि मौर्य्य काल में समिति सभाओं का तो लोप हो गया था, पर उनका बीज तत्कालीन मंत्रिपरिषद् में अवस्थित था। कदाचित् उस समय यह सिद्धांत मान्य था कि राजा बिना मंत्रिपरिषद् के सहयोग के समविचार के कार्य्य

नहीं कर सकता* । इस विषय में कौटिल्य का मत उल्लेखनीय है जिसके द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि राजा को मंत्रिपरिषद् के कितने अधिकारों को मानना पड़ता था । कौटिल्य का कहना है—"अत्ययिके कार्ये मंत्रिणो मन्त्रिपरिषदञ्चाहूय ब्रूयात्, तत्र यद्भूयिष्ठकार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुः तत् कुर्यात् ।" अर्थात् राजा को आवश्यक काल में मंत्री और मंत्रिपरिषद् दोनों को बुलाना चाहिए; और जो बात बहुमत से तै हो, वही करनी चाहिए । इससे यह पता चलता है कि मंत्री कुछ और लोग होते थे तथा मंत्रिपरिषद् एक दूसरी संस्था थी जिसे बुलाना पड़ता था । और जो कुछ बहुमत से तै होता था, वही करना पड़ता था । मंत्रिपरिषद् की संख्या के विषय में कौटिल्य का मत है† कि यह आवश्यकतानुसार ही होनी चाहिए; कोई नियमित संख्या बाँध देना ठीक नहीं ।

इन मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की सम्मति का इतना महत्त्व था, उनका इतना प्रभाव था कि कौटिल्य लिखता है—"अनासन्नैः सह पत्रसम्प्रेषणेन मंत्रयेत् ।" अर्थात् जो अनुपस्थित हों, उनके

---

* यद्यपि नीतिशास्त्र के कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं, किंतु यह स्पष्ट नहीं कि राजा के स्वेच्छाचार के रोकने के लिये मंत्रिपरिषद् के पास क्या वैधेय साधन थे । मंत्रियों का नियुक्त करना अथवा उन्हें हटाना राजा के ही हाथ में था; अतएव यह अधिक संभव है कि वे राजा के मुखापेक्षी होने के कारण उसके मन की ही कहते हों । सं०

† कौटिल्य के अनुसार तीन या चार से अधिक मंत्री होना अनुचित है । सं०

यहाँ पत्र भेजकर उनसे सम्मति लेनी चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि मंत्रिपरिषद् का राजा पर बहुत बड़ा अधिकार था और ये मंत्री राजा की स्वेच्छाचारिता में बाधक होते थे। दिव्यावदान में एक कथा है जिसके द्वारा यह पता चलता है कि एक अवसर पर मंत्रिपरिषद् ने राजा को दान देने से रोक दिया था*।

अशोक अपने चतुर्दश शिलालेख के छठे भाग में लिखता है कि यदि हमारी किसी आज्ञा, घोषणा या दान के विरुद्ध मंत्रिपरिषद् में बहस हो, या उसके विरुद्ध मंत्रिपरिषद् अपनी सम्मति प्रकट करे या निश्चय करे, तो उसका पता हमें उसी समय लग जाना चाहिए। मेगास्थनीज ने अपने लेख में एक सातवीं जाति का वर्णन किया है जिसकी संख्या उसने कम बतलाई है, पर जिसको सबसे अधिक आदरणीय और योग्य कहा है। उसने उनके कार्य के संबंध में लिखा है कि वे शासन के भीतरी से भीतरी मामलों के कर्ता धर्ता थे। वे कोषाध्यक्ष, प्रांताध्यक्ष, नौकाध्यक्ष, सेनापति आदि की नियुक्ति करते थे, आपण्यक के विषय में विचार करते थे इत्यादि इत्यादि। संभव है कि यही आदमी मंत्रिपरिषद् में भी रहा करते हों†। मौर्य काल में मंत्रिपरिषद् की एक संस्था वर्तमान थी जो मौर्य राजाओं को भी अनन्य स्वेच्छाचारी होने से रोका

---

*ऐसी कथाओं के आधार पर कोई दृढ़ सिद्धांत निश्चित करना दुष्कर है। दिव्यावदान से ही मंत्रिपरिषद् की असमर्थता भी दिखाई जा सकती है। सं०

† यह यदि नितांत असंभव नहीं तो संभवातीत अवश्य है। सं०

करती थी। अशोक के विषय में उस परिषद् के इच्छानुसार दान देने की बात लिखी जा चुकी है। उसने अपने शासन के २६ वें वर्ष में राजुकों को, जो मंत्री होते थे*, स्वतंत्र कर दिया था। वे अपना आंतरिक शासन तथा संधि विग्रह का काम अपने हाथ में ले चुके थे। कुछ विद्वानों का मत है कि अशोक के दान आदि की नीति के विरुद्ध ही असंतुष्ट होकर उन राजुकों ने राजकाज अपने हाथ में ले लिया होगा। पौर जानपदों ने, जिनका वर्णन हम आगे करेंगे और जो प्रजा की प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएँ थीं, उनका समर्थन किया होगा; अतः अशोक को विवश होकर यह घोषणा करनी पड़ी होगी कि मैंने राजुकों के हाथ में शासन दे दिया है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह विचार कहाँ तक ठीक है, पर यह तो सिद्ध हो जाता है कि मंत्री और मंत्रिपरिषदों को यथेष्ट अधिकार था जिसके द्वारा वे राजा के निश्चय के विरुद्ध अपना मत दे सकते थे; और राजा को उनका मत अनसुना करने का अधिकार नहीं था†। साधारणतः उसे उनकी बात माननी पड़ती थी और उसी के अनुसार कार्य करना पड़ता था।

राजतंत्र के उत्थान के साथ ही साथ एक और संस्था का पता चलता है जो प्रजा की शक्ति की द्योतक थी। रामा-

---

* राजुक अथवा लाजुक कौन थे, इस विषय पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। उन्हें सहसा मंत्री कह देना उचित प्रतीत नहीं होता। सं०

† पृष्ठ ४४ का पहला नोट देखो। सं०

यश और महाभारत में इसका वर्णन आया है। इसके कर्त्तव्य और इसके अधिकार आदि सभी के उल्लेख उनमें मिलते हैं। इसका हाथ राजा के राज्यारोहण में भी था। अभिषेक के समय में इसकी सम्मति ली जाती थी और यह उसे रोकने तक में समर्थ थी। इसके अधिकार में नगर का प्रबंध तो था ही, पर इस संस्था के सदस्य राज्य-शासन-प्रणाली में भी कुछ अधिकार रखते थे। इसके विशिष्ट नियम थे, जिनका आदर करना राजा का कर्तव्य था। इन संस्थाओं का नाम पौर-जानपद है। इनका निमंत्रण राजा के अभिषिंचन पर होता था, जैसा कि रामायण से सिद्ध है। यथा—"ब्राह्मणा जन-मुख्याश्च पौरजानपदैः सह।" इसके सिवा प्राचीन समय में इनका अधिकार मंत्रियों की नियुक्ति और अन्य राजकीय नीति के अवलंबन में भी था। महाभारत इस बात का प्रमाण है कि उसी मंत्री को नियुक्त करना चाहिए जिसमें पौर जानपदों का विश्वास हो। यथा—"तस्मै मंत्रः प्रयोक्तव्यो दंडमाधित्सता नृप। पौर जानपदा यस्मिन्विश्वासं धर्मतो गताः।" अर्थात् राजा उसी मंत्र (नीति) का प्रयोग उस मंत्री द्वारा करावे जिसमें पौर-जानपदों का विश्वास हो। इससे हमें यह पता लग जाता है कि पौर जानपद भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में मुख्य संस्थाएँ थीं, जिनके हाथ में बड़ा अधिकार था और जिनकी यथेष्ट शक्ति थी*।

* लेखक के सिद्धांत अवश्यमेव विचारणीय हैं, किंतु ये विषय अत्यंत विवाद-ग्रस्त हैं। सं०

अर्थशास्त्र से मौर्य काल में भी इन संस्थाओं का अस्तित्व सिद्ध होता है जिनमें उस समय भी महत्ता वर्तमान थी और जो उस समय भी शक्तिशालिनी थीं। राजा को यह ज्ञात था कि प्रजा की शक्ति और लोकमत का केंद्र पौर जानपद ही है। इस कारण प्रजा की विचारधारा का पता लगाने के लिये कौटिल्य ने पौर जानपदों पर गूढ़ पुरुषों (Spies) के नियत करने का आदेश दिया है; और कहा है कि वे गूढ़ पुरुष राजा की निंदा करें और विवाद करें कि परमात्मा ने राजा को प्रजा-रक्षण के लिये बनाया है; और यह राजा अपनी प्रजा को कष्ट देता है। यदि इस से प्रजा सहमत हो तो समझ ले कि वायुमंडल राजा के विरुद्ध है; और प्रजा यदि राजा का पक्ष लें, तो राजा को समझना चाहिए कि प्रजा हमारे साथ है। "न चास्य कश्चिद्गुणो दृश्यते, यः पौर जानपदान् दंडकराभ्यां पीडयति।" इस प्रकार के विवाद करके पौर जानपदों के मत जानना मौर्यकालीन राज्य उचित समझते थे। इससे हमें ज्ञात होता है कि मौर्य काल में भी पौर जानपदों की संस्थाएँ थीं जिनके कारण राजा की शक्ति से प्रजा की रक्षा होती थी और धर्मात्मा राजा उसके द्वारा सहायता प्राप्त करके अपना धर्मपालन करता था। मौर्य काल में प्रांतीय राजधानियों में पौर जानपद संस्थाओं के अस्तित्व का पता मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि उक्त स्थानों में भी ये संस्थाएँ स्थापित थीं। दिव्यावदान में एक कथा है कि तक्षशिला के पौर वहाँ के

मंत्रियों के विरुद्ध थे। उनके असंतोष की जाँच के लिये अशोक के पुत्र कुणाल भेजे गए थे। पौर जानपदों के कहने से ही वे मंत्री बदले गए और पाँच वर्ष के बदले मंत्रियों का परिवर्तन तीन तीन वर्ष पर होने लगा।

यदि राजा को कोई असाधारण कर लगाना होता था, तो उसे प्रजा की इन संस्थाओं से आज्ञा लेनी पड़ती थी जिसे कर-प्रणय कहते थे। जैसा कि कौटिल्य ने लिखा है—"एतेन प्रदेशेन राजा पौरजानपदानभिक्षेत्।" कौटिल्य ने यह भी कहा है कि बिना उनकी इच्छा के कर लेकर उन्हें नाराज करने से राजा का पतन हो जाता है। कौटिल्य ने शत्रु के देश में शत्रु राजा के प्रति अप्रीति फैलाने का एक यह भी उपाय बताया है कि पौर जानपदों से कहा जाय कि तुम्हारा राजा कर बढ़ाना चाहता है। इन सब बातों से पता चलता है कि पौर जानपदों के हाथ में कितने राजनीतिक अधिकार थे।

गिरनार के अष्टम शिलालेख से यह पता लगता है कि अशोक ने बोध गया की यात्रा में वहाँ के पौर जानपदों से अपने धर्म के संबंध में वार्तालाप किया था। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रजा संबंधी कोई कार्य करने के पहले पौर जानपदों को अपनी ओर मिलाना बहुत आवश्यक होता था*।

* यह निष्कर्ष गिरनार के शिलालेख से नहीं निकलता प्रतीत होता है। सं०

इस प्रकार हमने देख लिया कि मौर्य काल में, जब कि राजा के हाथों में धीरे धीरे राष्ट्र की सारी शक्ति केंद्रस्थ हो रही थी, जब कि भारत की प्रवृत्ति साम्राज्यवाद में डूबने की हो रही थी और जब कि राजाओं के हाथ में शक्ति आई थी, राजा की वह शक्ति अनियंत्रित तथा स्वेच्छापूर्ण नहीं हो सकती थी; और मंत्रिपरिषद्, मंत्री, पौर जानपद आदि प्रजा की संस्थाएँ वर्त्तमान थीं जो प्रजा को राजा की अपरिमेय शक्ति से बचाने का साधन थीं और साथ ही जो योग्य राजा के योग्य शासन में सहायता देनेवाली थीं।

मैंने अभी तक यह दिखलाने की चेष्टा की है कि मौर्य काल में भारत में कैसी राजनीतिक शासन-प्रणाली थी और राजा तथा प्रजा का कैसा संबंध था, राजा का क्या स्थान था, उसकी कैसी शक्ति थी, प्रजा पर उसका कितना अधिकार था तथा प्रजा का उस पर कितना अधिकार था। अब हमें यह भी देखना चाहिए कि मौर्य काल में भारतीय राजनीतिज्ञों को बाहरी राजनीति का कैसा और कितना ज्ञान था। उस समय भी राजाओं में आपस की स्पर्धा तो रही ही होगी। प्रत्येक को इस बात की आकांक्षा रही होगी कि हम अधिक शक्तिशाली हों; एक दूसरे के राज्य हड़प करने की इच्छा रही होगी; अपने प्रभाव, बल और अपने साम्राज्य का विस्तार करने की आकांक्षा और उत्साह स्वभावतः सब में वर्तमान रहा होगा। ऐसी अवस्था में हमें देखना चाहिए कि उस काल

के राष्ट्रों में अपनी वासना और अपना उत्साह पूर्ण करने के विषय में उस समय के राजनीति-विशारदों में क्या विचार उत्पन्न हो चुके थे।

उस समय का सब से बड़ा राजनीतिज्ञ, जो अपने जीवन काल में अपनी राजनीतिक चातुरी के कारण सफल हुआ, कौटिल्य था। और जब वह राजमंत्री के पद पर स्थित था, तब उसकी नीति ही संभवतः राज्य की नीति रही होगी। अतएव अंतर्राष्ट्रीय मामलों में कार्य करने की उसकी कैसी नीति थी, इसे देखने से मौर्य काल के अंतर्राष्ट्रीय विधान का कुछ कुछ दिग्दर्शन हो जायगा।

अपने अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने उस अंतर्जातीय कूटनीति पर प्रकाश डाला है जिसके द्वारा एक राष्ट्र अपनी उच्चाकांक्षा और अपने उत्साह की पूर्त्ति कर सकता है। कौटिल्य ने छः प्रकार की नीतियों का वर्णन किया है—संधि, विग्रह, उदासीन, यान, संश्रय तथा द्वैधीभाव। उसका कहना है कि अपने सुभीते और शक्ति के अनुसार इन छः प्रकार की नीतियों का अवलंबन करना चाहिए। यदि कोई शत्रु प्रबल हो, और उससे अपने को ही डर हो तो उससे शांतिपूर्वक प्रेमपूर्ण संधि कर ले। यदि वह शक्ति के अनुसार लड़ाई के योग्य हो तो विग्रह के लिये तैयार हो जाय। कभी कभी आसन (उदासीन) नीति का अवलंबन करना चाहिए। यदि देखे कि दो आपस में लड़ रहे हैं और दोनों में से एक दूसरे को

हानि नहीं पहुँचा सकता है, दोनों के बल बराबर हैं और स्वयं दुर्बल हो तो उदासीन नीति का अवलंबन करे। यदि अपने को भी समर्थ पावे तो "यान-नीति" का अर्थात् आक्रमण की नीति का अवलंबन करे। यदि आवश्यकता हो और स्वयं कमजोर हो, सबल के आक्रमण का डर हो तो "संश्रय" अर्थात् किसी दूसरे की सहायता ले ले, और उसके सहारे पर स्वयं रक्षित रहे। कभी कभी द्वैधीभाव की नीति का भी अवलंबन करना चाहिए; अर्थात् दो शत्रुओं को दुतरफी चाल चलकर आपस में लड़ा दे और स्वयं लाभ उठावे। इस प्रकार जिस समय जिस नीति की आवश्यकता पड़े, जिसके द्वारा देश में लाभ होने की संभावना हो, प्रजा के सुख की और विजय की आशा हो, उस समय उसी नीति का अवलंबन करे।

कौटिल्य ने संधियों को कई भागों में बाँटा है; यथा—"पणबंधसंधि"—दो राजाओं के आपस की शत्रुता के अंत करने को कहते हैं। "मित्रसंधि"—आपस में आवश्यकता के समय एक दूसरे की मदद करना। "भूमिसंधि"—किसी शत्रु राज्य को मिलकर छीनना और निश्चित शर्तों के अनुसार आपस में उसका बँटवारा करना। "कर्मसंधि"—ऐसे कार्य करने का समझौता जिससे व्यापारिक लाभ हो। जैसे खान आदि खोदने के लिये संधि। इस प्रकार की संधि के भी भेद बतलाए गए हैं। यद्यपि इसका पता इतिहास से

नहीं चलता कि मौर्य्य राजाओं ने किस समय किस नीति की उपयोगिता समझकर उसका प्रयोग किया, पर यह बात अवश्य जान पड़ती है कि मौर्य्य राजा चंद्रगुप्त को विजय करने के लिये कई युद्ध करने पड़े। उसे अन्य दूसरे राष्ट्रों से काम पड़ा--उनसे संबंध स्थापित करना पड़ा। ऐसी अवस्था में यदि उसे सुचारु और विवेचनात्मक नीतियों की जानकारी न होती तो वह सफल कैसे होता? चंद्रगुप्त की सफलता इस बात की द्योतक है, तथा इसका प्रमाण है कि कौटिल्य के हाथ में रहनेवाली शासन की बागडोर तथा अंतर्जातीय नीति की पूरी सफलता का कारण यही है कि उस समय भी शासन के मुख्य सिद्धांत और अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति का ज्ञान भारत में वर्तमान था।

चंद्रगुप्त की शासन-पद्धति

चंद्रगुप्त विशाल मौर्य्य साम्राज्य का अधिपति हुआ। जिस चालाकी, जिस बुद्धिमत्ता और जिस तत्परता के साथ उसने साम्राज्य लिया होगा, इसका उसके कार्यों से ही अनुमान हो सकता है। साथ ही परम चतुर महा राजनीति-विशारद कौटिल्य मंत्री था। ऐसी अवस्था में उसकी सैनिक व्यवस्था और उसके साधारण शासन का प्रबंध कैसा रहा होगा, इस विषय की ओर स्वभावतः मनुष्य का ध्यान जायगा। इतने बृहद् साम्राज्य में किस तरह से वह राज्य करता रहा होगा, वीर यूनानी विदेशियों से उसने किस प्रकार तथा कैसी सेना की

सहायता से युद्ध किया होगा, इत्यादि विषयों के जानने की इच्छा अवश्य ही होगी। अतः इस विषय पर भी प्रकाश डालने की आवश्यकता है।

चंद्रगुप्त की शासन-व्यवस्था और उसके सैनिक संघटन का पता हमें मेगास्थनीज के लेखों और कौटिल्य के अर्थशास्त्र से लगता है। संभवतः उसी प्रकार की व्यवस्था अशोक के काल में भी रही होगी, क्योंकि उसकी पद्धति पूर्णतया परिपक्व थी। अब हम पहले उसकी सैनिक व्यवस्था देखेंगे।

सैनिक व्यवस्था

चंद्रगुप्त की सेना प्राचीन भारतीय प्रथा के अनुसार चतुरंगिणी थी; परंतु समय के अनुसार तथा कदाचित् साम्राज्य के विस्तार के कारण, उसने एक नई सेना भी खड़ी की थी जो जल-सेना थी। यह जल-सेना प्राचीन सेना की प्रथा में एक नई तथा विशेष वृद्धि थी। चतुरंगिणी सेना के अनुसार उसकी सेना में भी हाथी, रथ, अश्व और पैदल थे। इनकी संख्या इस प्रकार थी—

हाथियों की सेना में ९००० हाथी थे; तथा प्रत्येक हाथी पर एक महावत को छोड़कर अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित तीन धनुर्धारी वीर रहते थे।

रथों की सेना में ८००० रथ थे और प्रत्येक रथ पर सारथी के सिवा दो धनुषधारी रहते थे।

घोड़ों की संख्या ३०,००० थी। प्रत्येक घोड़े पर एक सवार होता था। **पैदल** सिपाहियों की संख्या ६,००,००० थी। इस प्रकार ३६,००० गजारोही, २४,००० रथारोही, ३०,००० अश्वारोही तथा ६,००,००० पैदल, अर्थात् कुल मिलाकर सैनिकों की संख्या ६,९०,००० थी। इतनी बृहद् संघटित और बलवती सेना का सारा वेतन राज-कोष से नियमित रूप से ही दिया जाता था। यह तो हुई सेना की संख्या। अब इस सेना का सारा प्रबंध—उसका शासन—उसका पूरा इंतजाम एक अलग सैनिक मंडल के अधीन था। इस मंडल के ३० सभासद होते थे, और यह मंडल छः विभिन्न विभागों में विभक्त था। इतनी बड़ी सेना का प्रबंध करना कोई सरल कार्य्य नहीं था, इसी लिये इस मंडल की स्थापना हुई थी। मडल के प्रत्येक विभाग में पाँच सदस्य होते थे। अब इन विभागों पर ध्यान दीजिए कि किसके जिम्मे कौन सा काम सपुर्द था।

प्रथम विभाग जल-सेना का था। यह विभाग जल सेना के सभापति के साथ मिलकर, जल-सैन्य का प्रबंध करता था और उसकी देखरेख रखता था।

द्वितीय विभाग के अधिकार में सारी सैन्य-सामग्री का प्रबंध करना तथा सेना की आवश्यकताओं को पूरा करना था। रसद आदि भोज्य पदार्थों का प्रबंध, रण-वाद्य, अस्त्रशस्त्र, साईस, घसियारे आदि सब का प्रबंध इसी के अधीन था।

तृतीय विभाग पैदल सेना का शासन करता था।

चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ विभाग क्रमशः अश्व, रथ तथा हस्ति-विभाग सेना की देखभाल तथा प्रबंध आदि करते थे।

इस मंडल की स्थापना में प्राचीन काल की प्रथा से कुछ विशेषता मालूम होती है। प्राचीन प्रथा में चतुरंगिणी सेना तो थी ही; उसका शासन भी होता ही रहा होगा। पर जल-सेना और सैन्य-सामग्री के प्रबंध के लिये विशेष ध्यान देना और उसका समुचित प्रबंध करना चंद्रगुप्त की व्यवस्था की एक विशेषता और उसकी बुद्धिमत्ता का सूचक है।

इसके सिवा कौटिलीय अर्थशास्त्र से कई प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के नामों का भी पता चलता है जो शायद उस समय प्रचलित रहे होंगे। स्थिर यंत्र, चल यंत्र, धनुष-बाण, खंड, खड्ग, क्षुरकल्प (छुरे के समान कोई शस्त्र), हलमुख आदि अनेक प्रकार के शस्त्रों का पता चलता है।

कौटिल्य के मतानुसार पैदल सिपाही प्रायः छः प्रकार के होते थे जो भिन्न भिन्न प्रकार से भर्ती किए जाते थे। "मौल"—वे कहे जाते थे जो पिता, पितामह काल से ही राजसेना में भर्ती होते चले आते थे। "भृत"—वे कहे जाते थे जो कुछ काल के लिये विशेष रूप में कुछ देकर भर्ती किए जाते थे। "श्रेणी"—ये ऐसे योद्धाओं की जातियाँ थीं जो भर्ती की जाती थीं। "मित्र"—वे कहे जाते थे जो मित्र के देशों से भर्ती करके लाए जाते थे। "अमित्र"—वे कहे जाते थे जो शत्रुओं के देश

से लाकर भर्ती किए जाते थे। "अटवी"—वे कहे जाते थे जो जंगली राजाओं या जातियों में से भर्ती किए जाते थे।

प्राचीन काल में दुर्गों और किलों की बड़ी आवश्यकता समझी जाती थी। उनके शासन तथा रक्षा का भारी भार होता था। उनकी बड़ी महत्ता और शक्ति समझी जाती थी। अतः कौटिलीय अर्थशास्त्र में कई प्रकार के किलों के नाम आते हैं, जो चारों तरफ बनाए जाते थे और जिन पर शासन का बहुत कुछ भार अवलंबित था।

जो किले १० गाँवों के केंद्र में रहते थे, वे "संग्रहण" कहलाते थे; जो २०० गाँवों के मध्य में थे वे "खार्वटिक" कहलाते थे; जो ४०० गाँवों के मध्य में थे, वे "द्रोणमुख" कहलाते थे; और जो किले ८०० गाँवों के बीच में होते थे, वे "स्थानीय" कहलाते थे।

इनके सिवा जंगलों में "वनदुर्गः", रेगिस्तानों में "धान्वन", पर्वतों पर "पार्वत" आदि किले होते थे। चारों ओर से जल द्वारा घेरकर जो किले बनाए जाते थे, वे "औदर" कहलाते थे।

इस सैनिक व्यवस्था के अतिरिक्त एक नगर-शासक मंडल भी था जिस पर नगर के स्थानीय शासन का कार्य्य-भार रहता था। इनका बिलकुल वही कार्य्य था जो आजकल की म्युनिसिपेल्टियाँ किया करती हैं। संभव है, पौर जानपदों के जिम्मे यह नगर-शासक मंडल रहा हो; क्योंकि पौर और इस मंडल के कार्य्य की ज़िम्मेदारी प्रायः एक ही सी थी।

यह नगर-शासक मंडल भी ३० सभासदों का होता था और छः विभिन्न विभागों में विभक्त था। प्रत्येक विभाग के पाँच सदस्य होते थे।

प्रथम विभाग का कार्य्य नगर की शिल्पकला, उद्योग-धंधों और कारीगरों की जाँच पड़ताल करना तथा उसकी देख-रेख करना था। कारखानेवालों के कच्चे माल की देखभाल, कारीगरों की मजदूरी की दर नियत करना, खराब और रद्दी माल कारीगर इस्तेमाल न करने पावें, इसकी जाँच पड़ताल करना आदि इसी विभाग के अधीन था। जो लोग कारीगरों को किसी प्रकार से शारीरिक कष्ट पहुँचाकर उन्हें कार्य्य करने के अयोग्य कर देते थे अथवा उनके अंग भंग करते थे, उनको प्राणदंड दिया जाता था। क्योंकि एक तो कारीगर राज्य के सेवक और उसकी विशेष संपत्ति समझे जाते थे; उन्हें उनके कर्त्तव्य से रोकना अपराध समझा जाता था। दूसरी बात यह थी कि अंग भंग करके उसके कार्य्य में बाधा डालने और उसे भूखों मरने पर बाध्य करनेवाले के लिये प्राणदंड ही उपयुक्त समझा जाता था।

द्वितीय विभाग का कर्त्तव्य विदेशियों की देखरेख करना था। जो विदेशी व्यापारी अथवा विदेशी यात्री इस देश में आते थे, उनका निरीक्षण, उनकी सहायता करना, उनके सुख आदि का विशेष प्रबंध करना इसका मुख्य कार्य्य था। मरने पर उन (विदेशियों) का उचित संस्कार, उनकी

संपत्ति, उनके मकान, धन आदि की समुचित प्रबंध करना इस विभाग के जिम्मे था। इस विभाग की स्थापना ही इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि ईसा से पूर्व तीसरी और चौथी शताब्दी में भारत का संबंध विदेशियों से था और बहुत से विदेशी, व्यापार या भ्रमण करने के लिये, भारत आते थे।

तृतीय विभाग का कार्य्य साम्राज्य के अंदर के जन्म और मृत्यु की संख्या का हिसाब किताब रखना था। इसके द्वारा राज्य को यह पता रहता था कि आबादी कितनी घटी अथवा कितनी बढ़ी। यह कार्य्य आज के संसार में आवश्यक समझा जाता है; और सभी म्युनिसिपेल्टियों के जिम्मे यह कार्य्य है। पर अब संसार यह जानता है कि ऐसा प्रबंध भारत में आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भी वर्तमान था।

चतुर्थ विभाग के अधीन वाणिज्य और व्यवसाय का शासन था। उन वस्तुओं की दर नियत करना जो बिक्री की हों, सौदागरों के बटखरों पर दृष्टि रखना, उन पर की राजमुद्रा का निरीक्षण करना आदि इस विभाग के जिम्मे था। प्रत्येक व्यापारी को राज्य से एक प्रकार का लाइसेंस लेकर तब व्यापार करने की आज्ञा थी और उसके लिये उसे एक प्रकार का कर भी देना पड़ता था। यदि कोई व्यापारी एक से अधिक प्रकार का व्यापार करता, तो उसे दूना कर देना होता था।

पंचम विभाग का कार्य्य कारखानों द्वारा बनी हुई वस्तुओं का निरीक्षण करना था। पुरानी और नई वस्तुओं

को अलग अलग रखना व्यापारियों का कार्य्य था। बिना राजा की आज्ञा के कोई व्यापारी पुरानी वस्तु नहीं बेच सकता था। यदि बेचता तो वह दंडनीय समझा जाता था।

षष्ठ विभाग बिक्री की वस्तुओं के मूल्य पर का दशमांश कर वसूल करता था। यदि कर न देकर कोई इस नियम को भंग करता, तो वह प्राणदंड तक का भागी समझा जाता था।

इस प्रकार के ये छः विभाग अलग अलग अपने कार्य्य का संपादन और उसका निरीक्षण करते थे*। यदि कोई सार्वजनिक कार्य होता, जिसमें सभी लोगों के मत की आवश्यकता होती, तो ये सब मिलकर वह कार्य्य करते थे। हाट, घाट, मंदिर आदि सभी सार्वजनिक लोकोपकारी कार्य्यों तथा स्थानों का प्रबंध यही करते थे।

इस बात का पूरा पता नहीं है कि इस स्थानीय स्वशासन की प्रथा और पद्धति केवल राजधानी में ही थी अथवा अन्य प्रांतों में भी थी। पर अनुमान किया जाता है कि संभवतः तक्षशिला, उज्जयिनी आदि बड़े बड़े नगरों में यह पद्धति प्रचलित थी।

इसके सिवा मौर्य्य साम्राज्य में कई प्रांत भी थे—उसकी विस्तृति यथेष्ट थी। एक पुरुष इतने बड़े और विस्तृत राज्य का

* बड़े आश्चर्य की बात है कि उपर्युक्त विभागों का वर्णन कौटिल्य ने अपने ग्रंथ में नहीं किया। सं०

शासन करने में असमर्थ था, अतः उसके विभाग प्रांतों में कर दिए जाते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार प्रत्येक राज्य चार प्रांतों में विभक्त होना चाहिए और उस प्रत्येक प्रांत का शासक राजकुमार या स्थानिक होना चाहिए। चंद्रगुप्त का साम्राज्य कितने प्रांतों में बँटा था, इसका पूरा पता अभी तक नहीं लगा है। पर ऐसा कहा जाता है कि प्रांत थे अवश्य; क्योंकि अशोक ही अपने पिता के जीवन काल में तक्षशिला और उज्जयिनी नामक दो प्रांतीय राजधानियों का प्रांत-शासक था तथा उसके शिलालेख से तो प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है कि तक्षशिला, उज्जयिनी, तोसली और सुवर्णगिरि नामक चार प्रांतीय राजधानियाँ थीं। इनमें तक्षशिला पश्चिमोत्तर प्रांत की, उज्जयिनी मध्य भारत की, तोसली कलिंग की और सुवर्णगिरि दक्षिण प्रांत की राजधानी थी। इन राजकुमारों के बाद राजुक, युक्त, उपयुक्त आदि अन्य छोटे छोटे कर्मचारी थे जो राज्य का कार्य करते थे अथवा छोटे छोटे प्रदेशों के अधिकारी थे।

इससे पता चलता है कि चंद्रगुप्त की शासन-प्रणाली बहुत ऊँचे ढंग की थी। वह पूर्ण व्यवस्थित थी। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि अशोक की भी शासन-व्यवस्था ऐसी ही रही होगी। परंतु प्रांतीय शासन के संबंध में अशोक के शिलालेखों आदि से उस समय की प्रांतीय शासन-व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और उसमें चंद्रगुप्त के काल से कुछ भेद अथवा विशेषता भी मालूम होती

है। अशोकीय साम्राज्य तो और बृहत् हो गया था, अतएव उसके काल में प्रांतीय शासन अवश्य ही रहे होंगे। ऐसी अवस्था में हम उसके शिलालेखों के द्वारा उनके वर्णन से उस पर प्रकाश डालना चाहते हैं।

अशोक की शासन-व्यवस्था की विशेषता यह है कि उसने अपने बृहत् सुविस्तृत साम्राज्य को कई प्रांतों में बाँट कर प्रांताध्यक्ष नियत किए थे तथा शासन के अंग-विशेषों के अलग अलग अध्यक्ष नियुक्त किए थे, जिसका फल यह हुआ था कि उसके शासन में पदाधिकारियों की संख्या बहुत अधिक थी। जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है, उसका साम्राज्य निस्संदेह विस्तृत था। साथ ही एक ही मनुष्य सारे साम्राज्य का शासन सफलतापूर्वक नहीं कर सकता था, यह भी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं; अतः सारा साम्राज्य प्रांतों में विभक्त रहा होगा ही, इसमें संदेह नहीं। इसके अनंतर सारे प्रांत के प्रांताध्यक्ष—उनकी अनुज्ञा में चलनेवाले, उनकी शासन व्यवस्था में सहायता करनेवाले—पदाधिकारियों की संख्या भी होगी जो सब मिलाकर बहुत अधिक रही होगी। इसी कारण अशोक के लेखों में बहुत से पदाधिकारियों के नाम पाए जाते हैं।

अशोक के प्रांतीय विभाग तथा 'प्रांताध्यक्ष दो प्रकार के थे। वे प्रांत जिनकी शासन-व्यवस्था में अधिक चातुरी, उत्तरदायित्व तथा बल की आवश्यकता थी, जिन प्रांतों के

शासकों में अधिक विश्वासपात्रता तथा राजभक्ति की आवश्यकता समझी जाती थी, जो प्रांत राजनीतिक दृष्टि से मुख्य तथा विशेष ध्यान देने योग्य समझे जाते थे, उनके शासक राजवंश में ही उत्पन्न राजकुमार नियत किए जाते थे, जिन पर राजवंश के रक्त के नाते अधिक विश्वास किया जा सकता था और जिनसे राजभक्ति की विशेष आशा की जाती थी। ऐसे प्रांत अशोक के लेख के अनुसार उसके काल में चार थे। एक कुमार तो तक्षशिला का प्रधान था जो गांधार प्रांत का मुख्य स्थान था। यह प्रांत पश्चिमोत्तर में साम्राज्य की सीमा था। वहाँ चतुर, विश्वासपात्र तथा बलवान् शासक की आवश्यकता थी ही; कारण कि भारतीय इतिहास में आपत्ति और आक्रमण का आरंभ तथा साम्राज्य के नाश और उसकी परतंत्रता की आशंका का स्थान पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत ही बहुत दिनों तक रहा है। इसलिये वहां के लिये विश्वासी और चतुर शासक की आवश्यकता अवश्य थी; और अशोक ने उसकी विशेष व्यवस्था करके राजनीतिज्ञता और दूरदर्शिता का परिचय दिया था।

दूसरा राजकुमार सुवर्णगिरि प्रांत में था जिसका स्थान अभी तक पूर्णरूपेण निश्चित नहीं हो पाया है। पर वह अवश्यमेव दक्षिण सीमा प्रांत की राजधानी होगी, जिसका संसर्ग सुदूर दक्षिण के चोल, पांड्य, केरल आदि स्वतंत्र राज्यों से रहा होगा तथा जिनसे सर्वदा संघर्ष की संभावना होने के

कारण विशेष योग्य शासक की आवश्यकता रही होगी। तीसरा कुमार शासक नवविजित कलिंग प्रांत में था जिसकी राजधानी तोसली थी। यह प्रांत नया जीता गया था। इसमें भी इस बात की आवश्यकता थी कि विश्वसनीय शासक हो; अतः वहाँ कुमार-शासन की जरूरत थी। चौथा प्रांत, जहाँ का शासक कुमार था, वह था उज्जैन। यह एक ऐसा प्रांत था जहाँ न तो कोई सीमा का झगड़ा था, न कोई नवविजित प्रांत था, पर फिर भी राजनीतिक दृष्टि से यह महत्व का स्थान समझा जाता था जिसके लिये यह प्रांत कुमार के शासनाधीन हुआ। इस प्रकार से ये प्रांत प्रथम कोटि में थे जिनके शासक कुमार होते थे; जो अधिक महत्व रखते थे तथा जहाँ विशेष ध्यान देने की आवश्यकता थी।

इनके सिवा ऐसे छोटे छोटे प्रांत भी अवश्य थे जहाँ प्रांतीय शासक रहते थे, पर उनमें यह आवश्यक नहीं था कि उनके शासक राजवंश के ही हों। ऐसे प्रांतों का पता अशोक के लेख में नहीं मिलता। पर रुद्रदामन के जूनागढ़ के लेख से यह पता चलता है कि अशोक के काल में सुराष्ट्र का शासक तुशास्फ था जो एक यवन था। इस प्रकार यह ज्ञात हो जाता है कि अशोक के समय में अन्य प्रांत भी थे जिनके शासक राजवंशीय कुमारों को छोड़कर और लोग भी हो सकते थे।

प्रांतों में इन शासकों के क्या अधिकार थे, ये कहाँ तक स्वतंत्र थे, इनका राजा के साथ कहाँ तक संबंध था, आदि बातों का

पूरा विवरण नहीं मिलता। परंतु ऐसा मालूम होता है कि वे शासक पूर्ण स्वच्छंद तथा अनियंत्रित अधिकारों के अधिकारी नहीं थे। उन पर किसी न किसी प्रकार के नियंत्रण की व्यवस्था अवश्य वर्तमान थी। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि जिस किसी स्थान में अशोक ने स्थानीय प्रांतीय शासकों को संबोधन किया है, वहाँ उसने केवल कुमारों को ही नहीं संबोधित किया है, बल्कि कुमारों तथा महामात्यों का नाम साथ ही साथ लिया है। ऐसा ही उल्लेख धौली तथा जौगढ़ के द्वितीय लेखों में है। इसी प्रकार यदि स्थानीय या प्रांतीय शासकों ने कोई आज्ञा अपने अधीन कार्य करनेवाले जिलाधीशों के नाम निकाली है, तो उसमें कुमार तथा महामात्यों का नाम साथ ही साथ है, जैसा कि सिद्दापुर के लेख से प्रत्यक्ष है।

इस प्रकार इन महामात्यों का रहना इस बात का द्योतक है कि प्रांतीय शासक मनमाना कार्य नहीं कर सकते थे*। उन्हें अपनी आज्ञा आदि पर महामात्यों की सहमति लेना भी आवश्यक था। यह बात बिलकुल ठीक है कि यदि अशोक इस प्रकार की नियंत्रित व्यवस्था न करता, तो इन प्रांतों के शासकों को अपने अनियंत्रित अधिकारों को कार्य रूप में

* लेखक ने "महामात्य" की परिभाषा नहीं दी। संभवतः महामात्य ऊँचे दर्जे के पदाधिकारी थे। वे राजकुमारों के आज्ञानुवर्त्ती और निरीक्षण में रहे होंगे, न कि राजकुमार उनके। सं०

परिणत करने की प्रवृत्ति अवश्य होती और उनके पूर्ण स्वतंत्र हो जाने की संभावना होती।

तृतीय शिलालेख के द्वारा यह ज्ञात होता है कि तीन प्रकार के पदाधिकारी अशोकीय राज्यव्यवस्था में ऐसे थे जिन पर बड़ा उत्तरदायित्व था और जो अच्छा वेतन पाते थे तथा जिनके हाथ में यथेष्ट अधिकार था। वे तीनों पदाधिकारी थे—"प्रादेशिक", "राजुक" और "युक्त"।

अर्थशास्त्र के द्वारा एक प्रकार के पदाधिकारी का पता चलता है जो "प्रदेष्टि" कहलाते थे और जिनका कार्य राज्य की आय का संग्रह करना तथा उसकी रक्षा का प्रबंध करना था। संभव है कि ये ही "प्रदेष्टि" अशोक के समय में "प्रादेशिक" कहलाते रहे हों, पर अशोक के काल में इनका कार्य उतना ही नहीं था, बल्कि इन पर न्याय का भी भार रहता था। अर्थशास्त्र में इन प्रदेष्टियों का स्थान अमात्यों के साथ था, तथा इनका वेतन भी अर्थशास्त्र ने यथेष्ट बतलाया है। इन कारणों से ज्ञात होता है कि "प्रदेष्टि" बड़े तथा उच्च कोटि के पदाधिकारियों में गिने जाते थे।

इनके बाद "रज्जुकों" का स्थान है*। ये भी अधिक आदरणीय और सम्मानित पदाधिकारियों की कोटि में थे, जैसा

* डा० टामस और विंसेंट स्मिथ की राय में 'राजुक' ही सबसे बड़ा पदाधिकारी था। उससे उतरकर प्रादेशिकों का दरजा था। "राजुक" शब्द अत्यन्त विवाद-ग्रस्त है। बूलर, भांडारकर और फ्लिक की

कि अशोक ने स्वयं कहा है कि वे सहस्रों नर-नारियों के ऊपर नियुक्त किए जाते हैं। उसके काल में उनका कार्य्य व्यवहार करना और दंड देना था, अर्थात् वे न्याय करते थे, पारितोषिक देते थे तथा कर्मानुसार दंड देते थे*। इन राजुकों का स्थान अमात्यों के समान समझा जाता था; अतः ये उत्तरदायी तथा उच्च अधिकारी माने जाते थे।

इनके सिवा द्वादश शिलालेख के अंत में—"धम्म महामात्य," "इथिझक महामात्य†", "व्रच्छभूमिक" आदि दो तीन प्रकार के अन्य अधिकारियों के भी नाम आए हैं। इनमें इथिझक महामात्य का अर्थ स्त्र्यध्यक्ष महामात्य मालूम होता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इस प्रकार के किसी पदाधिकारी-विशेष का नामोल्लेख नहीं मिलता, पर उसके द्वारा यह ज्ञात होता है कि राज्य में इस प्रकार के प्रश्न कि स्त्रियों का

राय में राजुक के कर्तव्य जमीन का नपवाना, सिंचाई आदि थे। जोली उसे अर्थशास्त्र के 'रज्जुश्चोररज्जु' से संबद्ध बतलाते हैं। हल्ज को इस व्याख्या में संदेह है। स्मिथ राजुक को राजा का समानवाची समझते हैं। जो हो, परंतु राजुक का प्रादेशिक के अधीन होना उपर्युक्त विद्वान् नहीं मानते। पं० गौरीशंकर ओझा भी उसे प्रादेशिकों से बड़ा मानते हैं। सं०

* देखो अशोक का चौथा स्तंभलेख। सं०

† "इथिधियख महामाता","इथीझख महामाता", "इस्त्रिधियच्छ महमत्र", "इस्त्रिझछ महमत्र" ये चार पाठ बारहवें शिलालेख के मिलते हैं। सं०

भरण पोषण कैसे हो, असहाय दीन स्त्रियों की सहायता आदि का कैसा प्रबंध हो, उठा करते थे। शायद अशोक ने इसकी एक भिन्न व्यवस्था करने के लिये यह रुयध्यक्ष का विभाग खोल रखा हो।

व्रच्छभूमिक का अर्थ शायद व्रजभूमिकों से हो। कौटिल्य ने व्रज शब्द का उपयोग गौ, भैंस, भेड़, बकरे आदि के अर्थ में किया है, जो राज्य की आय का एक मार्ग थे। संभव है, इस व्रच्छभूमिक का शुद्ध रूप व्रजभूमिक हो जिनका कार्य्य इस प्रकार पशुओं के रक्षा-निरीक्षण आदि से हो, जिनके द्वारा देश की उपज में सहायता मिले और जो राज्य की आय का एक द्वार बन सकें *।

"धर्म महामात्यों" के पद की सृष्टि तो अशोक ने ही की थी, जैसा कि उसने स्वयं लिखा है—मैंने धर्म्म महामात्य नियुक्त किए जिन्हें पहले किसी ने नहीं नियुक्त किया था। इनके द्वारा उसने अपने धर्म के प्रचार में बड़ी सहायता पाई थी।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि अशोक ने बहुत से बड़े बड़े पदाधिकारी नियुक्त किए थे और साम्राज्य के पूर्ण विस्तृत तथा विशाल होने के कारण इन पदाधिकारियों की संख्या भी अधिक थी। अंतः अब यह प्रश्न उठता है कि एक

* इनका संबंध धर्म-प्रचार से भी समझा जाता है। देखो "अशोक की धर्मलिपियाँ" पृ० १३० नो० १४.

ही आदमी इतने बड़े बड़े अधिकारी महामात्यों से किस प्रकार प्रत्यक्ष संबंध रख सका होगा ?

इस प्रश्न का उत्तर उसके लेखों द्वारा ही मिल जाता है, जिनमें एक ऐसी संस्था का नामोल्लेख मिलता है जिसके द्वारा राजा और इन अधिकारियों का प्रत्यक्ष संबंध स्थापित हो जाता था।

यह संस्था मंत्रिपरिषद् है जिसका उल्लेख उसके लेखों में आता है। इस मंत्रिपरिषद् में राजा के विशेष मंत्री तो होते ही थे; संभव है कि अलग अलग विभागों के महामात्यों के प्रतिनिधि भी रहते हों*। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, जब कोई आवश्यक कार्य्य आ जाता था, तो राजा अपने मंत्री ही को नहीं इस मंत्रिपरिषद् को भी बुलाता और बहुमत के अनुसार कार्य करता था। इस प्रकार जहाँ एक ओर इस मंत्रिपरिषद् का कार्य किसी बात को बहुमत द्वारा तै करके राजा को उस कार्य्य को करने देना था अर्थात् राज्य की अनियंत्रित तथा स्वेच्छाचारपूर्ण नीति पर एक प्रकार का नियंत्रण रखना था, वहाँ दूसरी ओर उसका कार्य, जैसा कि कौटिल्य ने लिखा है—"उन कामों को आरंभ करना है जो शुरू नहीं किए गए हैं, उनको पूर्ण करना है जो आरंभ हो चुके हों, जो हो रहा हो उसकी सहायता करना तथा राजाओं की आज्ञा का पालन कराना है।" साथ ही उसका एक मुख्य

* संभव है, परंतु इसका प्रमाण नहीं। सं०

कार्य्य यह भी था कि पदाधिकारियों द्वारा जो नीति काम में लाई जाने को हो अथवा जो कार्य्य कराना हो, उसका आदेश वह निकट के अथवा दूर के अधिकारियों तक पहुँचावे और उनसे कार्य्य करावे।

इस प्रकार यह एक ऐसी संस्था थी जो सर्वसाधारण अधिकारियों और राजा के बीच का कार्य्य पूरा कर देती थी। इन उपर्युक्त बातों के द्वारा हमने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि अशोक के लंबे चौड़े और सुविस्तृत साम्राज्य का शासन किस प्रकार होता रहा होगा। किस प्रकार के प्रांत थे, उन प्रांतों के कैसे शासक थे, उनमें कैसे अधिकारी होते थे, उनका तथा अधिकारियों का राजा के साथ कैसा संबंध स्थापित हुआ था, इन बातों को यथाशक्ति थोड़े में दिखलाने की चेष्टा की गई है। अब हम मौर्य्य सम्राटों के शासन के विषय में दो एक बातें लिखकर यह प्रकरण समाप्त करेंगे।

राज्य की रक्षा और उसके संचालन के लिये सबसे बड़ा प्रबंध जो था—और जैसा कि आजकल भी होता है—वह सेना थी। सेना के बाद राज्य की रक्षा का भार बहुत कुछ गुप्तचरों पर निर्भर करता था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में गुप्तचर विभाग तथा गुप्तचरों का बड़ा अच्छा वर्णन किया है और उनके संघटन पर बड़ा जोर दिया है। गुप्तचर लोग भिन्न भिन्न रूपों में भिन्न भिन्न वेषों में घूमा करते थे, और हर प्रकार का समाचार दिया करते थे। वे साम्राज्य के भीतर,

पौर जानपदों के अंदर जाकर उनके भाव समझने की चेष्टा करते थे (जैसा कि हम पहले लिख आए हैं), वे मंत्रिपरिषद् की बात राजा को सुनाते थे। अशोक ने अपने षष्ठ शिला-लेख में लिखा है—"प्रतिवेदक लोग हर समय हर स्थान में हमें मंत्रिपरिषद् में पेश हुए विषयों के विवाद पर और उसके निर्णय की सूचना दिया करें।" इस प्रकार से ये साम्राज्य के अंदर की प्रायः सभी मुख्य बातों की सूचना राजा को देते थे। इसके सिवा गुप्तचर लोग साम्राज्य के बाहर शत्रु राज्यों में जाकर वहाँ का पता लगाते और अपने राजा को सब समाचार देते थे। गुप्तचर लोग गूढ़ या सांकेतिक भाषा का भी ज्ञान रखते थे जिसके द्वारा वे अपने गूढ़ समाचार भेजा करते थे। इस प्रकार इन गुप्तचरों द्वारा बड़ा कार्य्य लिया जाता था। कौटिल्य ने इनकी कार्य्य-शैली का अच्छा वर्णन किया है तथा किस प्रकार इन्हें कार्य्य करना चाहिए, इसका भी आदेश दिया है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार शासन का कार्य्य प्रायः ३० विविध विभागों में बँटा था। इन विभागों के अध्यक्ष होते थे जिनके कर्त्तव्य का वर्णन अर्थशास्त्रकार ने बड़े विस्तार के साथ किया है। इन विभागों में से मुख्य मुख्य गुप्तचर विभाग, सैनिक विभाग, शुल्क विभाग, आकर विभाग, कृषि विभाग, नहर विभाग, पशु-रक्षा, चिकित्सा, मनुष्यगणना, सुरा, नौका और व्यापार-वाणिज्य आदि के विभाग थे।

इस प्रकार आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व जिस समय संसार में वर्त्तमान सभ्य जातियों के इतिहास के निर्माण का आधार नहीं तैयार हुआ था*, संसार में अंधकार था, उस समय भारतवर्ष की भूमि पर सभ्यता की ज्योति की एक अच्छी रेखा झलक चुकी थी। आज संसार इस सभ्यता को मानता है और समय तथा वर्त्तमान ऐतिहासिक खोज इस बात के साक्षी हैं कि भारतीय सभ्यता की रंगभूमि में केवल आध्यात्मिक और धार्मिक नेताओं ने ही अपने अपने चरित्रों के कार्य का पूर्ण रीति से संपादन नहीं किया था, बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में भारतीय राजनीतिक नेताओं ने भी अपना कार्य्य किया था और संसार के सामने भारतीय सभ्यता की पूर्णता प्रकट की थी।

आज भारत का प्राचीन इतिहास इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि भारतीय सभ्यता के विकास में, उसकी महत्ता और गौरव-शालीनता में, समाज के संघटन तथा राजनीतिक सिद्धांतों की शासन-व्यवस्था पर विचार की, कमी नहीं थी। प्राचीन वैदिक काल से ही राजनीति शास्त्र का सूत्रपात हुआ था और धीरे धीरे उसका विकास होता आया है। भारतीय राजनीति में धीरे धीरे परिवर्त्तन हो चला था। प्राचीन वैदिक काल में राजनीतिक शक्ति का जो केंद्र प्रजा के हाथ में था, उसका धीरे धीरे ह्रास होने लगा और वह धीरे धीरे राजा के हाथों में आने लगा; तथा चंद्रगुप्त का शासन और कौटिल्य का

---

* यह कथन अनैतिहासिक है। पीछे नोट देखो। सं०

अर्थशास्त्र यह प्रत्यक्ष बतला देता है कि भारतीय राजनीतिक शक्ति धीरे धीरे राजा के हाथों में चली आ रही थी। पर फिर भी प्राचीन संस्कार तथा सभ्यता, शालीनता और मनुष्यता इस बात पर बाध्य करती थी कि राजा की शक्ति अनियंत्रित और स्वेच्छाचारपूर्ण न हो सके।

न्याय, रक्षा और सहायता के सिद्धांतों पर अधिक ध्यान दिया जाता था, जैसा कि अशोक ने स्वयं अपने शिलालेख में इस बात पर जोर दिया है। उसमें लिखा है कि हमारी प्रजा हमें पुत्र के समान प्रिय है, उसके साथ न्याय करना ही राजा का परमेश्वर के सन्मुख अपने कर्त्तव्य का पालन करना है।

इस प्रकार इन विवरणों से यह पता चलता है कि देश की तत्कालीन शासन-व्यवस्था सुसंघटित, न्याययुक्त और प्रजा की सहायक थी, जिसके द्वारा समाज प्रसन्न, समृद्ध और सुखी था।

———

तीसरा अध्याय

वैदिक काल में भारत की आर्थिक स्थिति

भारत की प्राचीन आर्य सभ्यता की, विशेषतः उसकी पूर्णता की, खोज करने के लिये जीवन के सभी अंगों पर दृष्टि डालना, समाज के सभी अवयवों का वर्णन और उनकी जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। सब अवयवों के मेल के बिना शरीर सर्वांगसुंदर और पूर्ण नहीं कहा जा सकता। किसी देश या जाति की सभ्यता का विकसित रूप तब तक नहीं माना जा सकता, जब तक जीवन के सभी अंग, उसके तमाम विभागों का संचालन, उनकी एकात्मता उस सभ्यता में प्रदर्शित न होती हो। इसी लिये यह आवश्यकता है कि इस बात की खोज की जाय कि भारत की प्राचीन आर्य्य सभ्यता में देश की आर्थिक स्थिति क्या थी और उसका संचालन किस प्रकार होता था।

आज संसार में सभ्यता, शालीनता, गौरवशीलता, महत्ता आदि की जाँच—उनकी कसौटी—उस देश की आर्थिक स्थिति और देश के अर्थ-संपादन की क्रिया समझी जाती है। जिस देश में, जिस जाति में, जिन प्रकारों से—जिन उपायों से—अर्थ संपादन किया जाता है और उसके द्वारा उनकी जैसी आर्थिक स्थिति उत्पन्न होती है, वैसे ही उनकी सभ्यता की जाँच होती

है; वैसे ही वे सभ्य, शीलवान् और उच्च समझे जाते हैं। आज भी संसार के भागों में कहीं कोई समाज अपने अर्थ संपादन का सुंदर और समाज-समर्थित उपाय किसी का धन बलपूर्वक अपहरण कर लेना, चोरी करना इत्यादि, वैध समझता है। पर वह समाज या देश संसार की दृष्टि में कितना सभ्य और उच्च समझा जाता होगा, यह हम सभी समझ सकते हैं। इसी प्रकार आज संसार में वे जातियाँ, वे देश जो अपना अर्थ-संपादन संसार द्वारा माने हुए वैध उपायों से करते हैं, मनुष्य के मस्तिष्क से निकाले हुए सुंदर विचित्र वैज्ञानिक उपायों द्वारा अर्थ संग्रह करते हैं, वे सभ्यता की किस श्रेणी में समझे जाते हैं, यह भी हमसे छिपा नहीं है। इस कारण हमें भारतीय प्राचीन-सभ्यता पर दृष्टि डालते हुए इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि उस सभ्यता ने—जो किसी समय संसार में सब से ऊँची सभ्यता के रूप में व्याप्त था, और जो इतनी प्राचीन सभ्यता है कि उस समय में ही विकसित हो चली थी जब कि वर्तमान संसार के इतिहास का आधार भी अंधकार में था,—अपने देश, अपनी जाति की सुविधा, समृद्धि और सुख के लिये, देश में धन की वृद्धि के लिये, अर्थ संपादन के लिये किन किन प्रकारों का अवलंबन करना आरंभ किया था और देश की आर्थिक स्थिति को सभ्यता की किस सीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न किया था।

भारत अति प्राचीनतम अवस्था में ही श्रेष्ठ विचारों के द्वारा किन किन उपायों से अर्थ-संग्रह करता था,

इसका पूरा विवरण यदि अलग किसी समालोचनात्मक रूप में नहीं मिलता, तो कम से कम उसके अति प्राचीन वैदिक साहित्य में, वेदों के मंत्रों में, विस्फुटित रूप में ही अवश्य मिल जाता है। यद्यपि कहा जाता है कि वेदों का तात्पर्य—उनके मंत्रों का संबंध—धार्मिक बातों से है, पर फिर भी उन्हीं मंत्रों के द्वारा उस काल की आर्य सभ्यता के द्वारा अनुमोदित अनेक प्रकार के उपायों का पता चल जाता है, जिसके द्वारा भारतीय आर्य जाति और उसका देश समृद्धिशाली, धनवान और सुखी रहता था।

यद्यपि इस प्रकरण में हमें वैदिक काल की भारतीय आर्थिक स्थिति की विवेचना करने की आवश्यकता नहीं है, पर फिर भी इतना लिख देने में हानि नहीं है कि आज संसार के विद्वानों का ध्यान संसार की एक प्राचीनतम सभ्यता की खोज की तरफ गया है और उनके द्वारा वर्तमान में, तथा भविष्य में भी, बहुत सी बातें प्रकाश में आवेंगी जिनसे भारतीय सभ्यता की महत्ता सिद्ध होगी। वर्तमान विद्वानों के सतत परिश्रमयुक्त अध्ययन ने यह सिद्ध कर दिखलाया है कि संसार की सभ्यता के इतिहास की आरंभावस्था में ही भारतीय आर्य सभ्यता ने उस समय के अनुकूल प्रायः सभी मुख्य प्रकारों का अवलंबन आरंभ कर दिया था जिनके द्वारा देश सुखी और समृद्ध होता है। उन्होंने वैदिक मंत्रों के विवेचन और अध्ययन द्वारा संसार को यह बतलाने की चेष्टा की

है कि उस समय आर्य लोग कृषि, वाणिज्य और व्यापार करते थे और उन्हें इन विषयों का ज्ञान प्राप्त था।

उस समय में आर्यों द्वारा देश में कृषि होती थी। कृषि के लिये नहरों आदि का भी प्रबंध होता था। देश में वाणिज्य होता था। लोगों के नौका बनाने और समुद्रयात्रा करने का विवरण भी मिलता है। गोपालन भी होता था जिसके द्वारा कृषि होती थी और जो आय का एक मुख्य द्वार था। वस्त्र का बुनना भी विशेष रूप से प्रचलित था*।

इस प्रकार हमने यह बतलाने की चेष्टा की है कि भारतीय आर्य सभ्यता में अर्थ-विज्ञान का भी एक स्थान था और बहुत ही प्राचीन काल में आर्थिक स्थिति की उन्नति और देश की समृद्धि के लिये उन्होंने तत्कालानुसार यथाशक्ति सुंदर और सभ्य उपायों की खोज कर रखी थी जिसको देखकर आज का सभ्य संसार भी चकित हो जाता है। इसके अनंतर ज्यों ज्यों समाज का विकास होता गया, त्यों त्यों देश की आर्थिक स्थिति और देश के अर्थ-विज्ञान की उन्नति होती गई। यहाँ यह दिखलाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि पौराणिक काल में विशेषतः रामायणकार ने और महाभारतकार ने देश की आर्थिक स्थिति का कैसा अच्छा वर्णन किया है। इस बात से हम सभी परिचित हैं कि भारतीय सभ्यता के द्योतक

* देखो जे० एन० समाद्दार बी० ए० का Lectures on the Economic Conditions of India.

इन दो महाग्रंथों के पढ़ने से यह बात समझ में आ जाती है कि भारत की आर्थिक अवस्था उस काल में बड़ी ही उन्नत थी। रामायण में अयोध्या और लंका के वर्णन और महाभारत में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के वर्णन और उन्हें अन्य राजाओं द्वारा मिली हुई भेंट आदि के विवरण से यह ज्ञात हो जाता है कि उस काल में अर्थ-संपादन के अनेक उपाय उत्पन्न हो चुके थे, देश में अनेक प्रकार के उद्योग धंधों की उत्पत्ति हो चुकी थी, वाणिज्य व्यवसाय प्रचलित था, खेती होती थी और देश समृद्धिशाली तथा धन-सम्पन्न था।

इन प्राचीन विषयों को यहीं छोड़कर हमें यह देखना है कि जिस समाज की सभ्यता का उत्थापन अति प्राचीन वैदिक काल से ही आरंभ हो चुका था और जिसकी अवस्था पौराणिक काल में और भी उन्नत हो चुकी थी, वह समाज प्राचीन मौर्य्य काल में किस अवस्था को पहुँचा था।

इस विषय की विवेचना और ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें बौद्ध-साहित्य पर भी एक दृष्टि डालनी पड़ेगी, जिसके द्वारा तत्कालीन भारत की आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि सभी बातों का दिग्दर्शन हो जाता है। यद्यपि मौर्य्य काल के आरंभ से ही बौद्धकालीन भारत का अंत होता है, पर फिर भी बौद्ध काल और मौर्य्य काल के आपस के निकट संबंध के कारण बौद्ध काल की स्थिति और मौर्य्यकालीन अवस्था में कुछ न कुछ सादृश्य है ही, जिसके द्वारा हम भारतीय तत्कालीन

अवस्था का बहुत कुछ अनुमान कर सकेंगे और जो अंशतः ठीक ही होगा।

इसलिये बौद्ध-साहित्य के उस अंग पर, जिसमें जातक ग्रंथों का समावेश है, विचार करना होगा; और यह देखने की चेष्टा करनी होगी कि उस काल में भारतीय आर्थिक स्थिति कैसी थी।

जातक काल में भारतवर्ष में वाणिज्य और व्यवसाय के खूब प्रचलित होने का पता मिलता है। जातक की कथाओं से कई स्थानों में पता चलता है कि उस काल में वाणिज्य व्यवसाय के द्वारा देश में धन प्राप्त करने का उपाय विशेष रूप से ज्ञात था*।

अपन्न जातक की कथा द्वारा पता लगता है कि काशी में ब्रह्मदत्त नामक एक व्यवसायी था जो पाँच सौ गाड़ियों पर माल लादकर व्यवसाय करता था। उस समय के भारतीय व्यवसायी लोग अपनी गाड़ियों पर वस्तुएँ लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाते और बेचते थे।

उस काल में, जब कि सड़कों की सुविधा न थी, कोई विशेष प्रबंध न था, एक स्थान से दूसरे स्थान के बीच में वन, मैदान आदि बहुत मिलते थे, माल लादकर ले जाना कैसे साहस और खतरे की बात थी, इसे हम सभी समझ

---

* देखो श्री समादार का Economic Conditions in Ancient India.

सकते हैं। इतनी कठिनताओं और विघ्नों के होते हुए भी देश में व्यवसाय वर्तमान था, और अच्छी दशा में वर्तमान था।

देश के व्यवसायी अपने व्यापार की रक्षा के लिये, अपनी गाड़ियों की रक्षा के लिये बहुत से रक्षक नियत करते थे जो अस्त्र शस्त्र लेकर उनके साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते थे और डाकुओं, लुटेरों आदि से सामान की रक्षा करते थे।

दिन भर चलकर सूर्यास्त के समय कहीं डेरा डालकर, गाड़ियों से बैल अलग किए जाते थे और ये रक्षकगण सशस्त्र होकर रात्रि में उनकी विशेष रक्षा का प्रबंध करते थे। इस प्रकार वे अपने सामान अन्य स्थानों में ले जाकर बेचते और लाभ उठाकर समृद्धिशाली और धनवान् बनते थे।

इन्हीं जातकों के द्वारा इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि उस काल में भारतवर्ष में सामुद्रिक व्यापार भी प्रचलित था। नौकाओं का निर्माण करना, पोतों का निर्माण करना और उसके द्वारा व्यवसाय करना तत्कालीन भारत के अर्थ-संपादन की क्रियाओं में एक मुख्य बात थी।

समुद्र-वनिज जातक में यह कथा है कि एक नगर में कहीं बढ़इयों की बस्ती थी। कुछ लोगों के द्वारा तंग किए जाने पर तथा अपने उद्योग धंधे में हस्तक्षेप किए जाने के कारण उन सब ने उस नगर को छोड़ देने का निश्चय किया। उन सब ने मिलकर एक पोत का निर्माण किया और सपरिवार सब के

सब उस नगर को छोड़कर चले गए औ उन्होंने समुद्र के मध्यवर्ती किसी द्वीप में अपना वास नियत किया।

दो जातकों के द्वारा इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है कि उस काल मे भारतवर्ष का व्यापारिक संबंध लंका और बैबिलोन से था। जातकों में बावेरु (Baveru) देश का नाम आता है। विद्वानों का मत है कि बावेरु बैबिलोन ही है और जातकों में सामुद्रिक व्यापार होने का वर्णन इसी के संबंध में है। प्रो बुहलर का एक वाक्य, जिसे श्री युत जे० एन० समाद्दार महोदय ने प्राचीन भारत की आर्थिक स्थिति पर व्याख्यान देते हुए उद्धृत किया था, हम यहाँ उद्धृत करते हैं, जिसके द्वारा यह पता लग जाता है कि प्राचीन भारत में सामुद्रिक व्यापार की क्या स्थिति थी। उन्होंने लिखा है—

"The now well-known Baveru Jataka narrates that Hindu merchants exported peacocks to Baveru. The identification of Baveru with Babylon is not doubtful..........From the age of the materiels of the Jatakas the story indicates that the Vanias of the western India undertook trading voyages to the shores of the Persian Gulf and of its rivers in the 5th and perhaps in the 6th century B. C."

अर्थात्—"प्रसिद्ध बावेरु जातक द्वारा यह ज्ञात होता है कि भारतीय व्यापारी बावेरु को मोर (पक्षी) भेजा करते थे।

व वेरु का बैबिलोन होना निश्चित है। जातकों की कथाएँ यह बतलाती हैं कि पश्चिमीय भारत के व्यापारी ई० पू० पाँचवीं अथवा छठी शताब्दी में भी फारस की खाड़ी के किनारे तक अपनी व्यापारिक यात्रा के लिये जाया करते थे।" इस प्रकार संसार के सम्मुख जातकों ने भारतीय सभ्यता की महत्ता प्रदर्शित की है और यह प्रत्यक्ष कर दिखलाया है कि आज से ढाई हजार वर्ष पहले, मौर्य्योत्थान के पहले ही, भारत में विदेशी व्यापार होता था और भारतीय समुद्र-यात्रा किया करते थे।

उस काल में समुद्रीय व्यापार तथा भौमिक वाणिज्य दोनों में ही खतरा था।' रक्षा का कोई विशेष प्रबंध नहीं था। निर्जन वन तथा निर्जन स्थान बहुत अधिक थे। सड़कें सुभीते की नहीं थीं; इस कारण सब को अपनी अपनी रक्षा करने की भी आवश्यकता थी। इस का एक साधन यह भी था कि एक वस्तु के बहुत से व्यापारी मिलकर अपना संघटन कर लेते थे और उसके द्वारा अपने बहुत से कार्यों का संपादन किया करते थे। इस प्रकार के वाणिज्य और व्यापार करनेवाले व्यवसायियों के संघटन के लिये "श्रेणी" एक विशेष शब्द मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि उन मनुष्यों का संघटन जो एक ही व्यापार या उद्योग धंधा करते हो। ये संस्थाएँ वैसी ही मालूम होती हैं जैसी कि किसी समय युरोप में गिल्ड्स् (Guilds) के नाम से विख्यात थीं। इन श्रेणियों का नाम जातक कथाओं, आर्य्य धर्म के साहित्य

तथा प्राचीन राजाओं के लेखों आदि में मिलता है जिसके द्वारा यह पता चलता है कि ये संस्थाएँ अनेक प्रकार के प्राय: सभी व्यापारियों और उद्योग धंधे करनेवालों में वर्तमान थीं; और देश में इनका एक जबर्दस्त संघटन होने के कारण, तथा इनके हाथ में कुछ अधिकार होने के कारण इनका मान था, और समाज में इनका विशेष स्थान था।

डाक्टर रिस् डेविड्स (Rhys Davids) के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जातकों द्वारा उस काल में १८ ऐसी संघटित संस्थाओं का पता चलता है, जिनमें अनेक प्रकार के व्यापारी, कारीगर और उद्योग धंधे करनेवाले सम्मिलित थे*। इन अनेक प्रकार की १८ श्रेणियों की ओर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है, जिसके द्वारा हम यह देख लें कि किन किन उपायों और अर्थ-संपादन की क्रियाओं का पता तत्कालीन भारतीय जनता को था।

अब उन १८ संघटित श्रेणियों की ओर दृष्टि डालिए जिन्हें डा० डेविड्स ने जातकों के आधार पर खोज निकाला है—

(१) लकड़ी के काम करनेवाले—ये बढ़ईगिरी ही नहीं करते थे बल्कि नौका-निर्माण, गृह-निर्माण आदि भी करते थे।

(२) धातु के कार्य्य करनेवाले—ये हर प्रकार के अस्त्रशस्त्र, लोहे के औजार, कृषि के काम की चीजें तथा और भी बारीक

* देखो Buddhist India, Chap. VI. by Dr. Rhys Davids.

काम जैसे सूई अथवा सोने, चाँदी के सुंदर और बढ़िया काम करते थे।

(३) पत्थर का काम करनेवाले—ये वर्तमान संगतराशों का कार्य्य करते थे तथा पत्थरों में बहुत सुंदर और बारीक काम करते थे।

(४) बुनने का काम करनेवाले—ये केवल मोटे ही वस्त्र नहीं बुनते थे, बल्कि सुंदर महीन मलमल बुनते थे जिनका निर्यात होता था। ये सिल्क की बुनाई में भी प्रवीण थे।

(५) चमड़े का काम करनेवाले—ये चर्मकार आजकल के भारतीय चर्मकारों की भाँति पादत्राण आदि बनाते थे।

(६) कुम्हार का कार्य्य करनेवाले—ये पारिवारिक प्रयोग के लिये हर प्रकार के बर्तन आदि बनाते थे।

(७) हाथीदाँत पर काम बनानेवालों का भी उल्लेख मिलता है।

(८) रँगरेज—जो कपड़ा रँगते थे।

(९) जौहरी—ये गहनों आदि पर जड़ाई का कार्य करते थे और जवाहिरात की पहचान और मूल्य आदि का ज्ञान रखते थे।

(१०) मछुए—मछली मारना और बेचना इनका काम था।

(११) कसाई—जो मांस विक्रय करते थे।

(१२) शिकार करना भी कुछ लोगों का पेशा था। वे शिकार करते, उसे बेचते और जंगली चीजें जैसे सींग, लकड़ी

आदि की बिक्री करते थे। यद्यपि इसमें संदेह है कि इनकी श्रेणियाँ थीं वा नहीं, पर इनका पेशा मुख्य था, इसमें संदेह नहीं।

(१३) कुछ लोग भोजन बनाने का भी पेशा करते थे।

(१४) नाइयों की भी एक संघटित संस्था था।

(१५) माला—पुष्प बेचनेवाले ने अपनी एक पृथक् संस्था कायम कर रखी थी।

(१६) नौका खेना भी एक मुख्य कार्य्य था कारण कि व्यापार के लिये इन्हें नदियों और समुद्रों में जाना पड़ता था, और लोगों को इनकी आवश्यकता विशेष रूप से पड़ा करती थी इनकी एक अलग श्रेणी था।

(१७) तृण के कार्य्य करनेवालों टोकरी आदि बनाने और बेचनेवालों का भी अस्तित्व था।

(१८) चित्र बनानेवाले भी थे ये मकान आदि पर भी चित्रकारी करते और चित्र-निर्माण करते थे।

इस प्रकार संक्षेप में इन १८ उद्योग धंधों का पता चलता है जो व्यापार या व्यसाय करते थे और जिनकी संघटित श्रेणियाँ वर्तमान थीं।

इस प्रकार हमें पता चला कि ये उद्योग धंधे देश के व्यवसाय के अंतर्गत एक मुख्य स्थान प्राप्त कर चुके थे। इनकी श्रेणियाँ वर्तमान थीं। इन श्रेणियों के संघटन के स्वरूप का विशेष पता तो नहीं चलता, पर इतना अवश्य मालूम होता है कि इनके प्रमुख या सरपंच होते थे जिनका देश में विशेष

प्रभाव होता था और जो देश के मुख्य पुरुषों में गिने जाते थे। आवश्यक समयों पर राजा द्वारा इनकी बुलाहट होती और देश की शासन-व्यवस्था तथा नीति-संचालन में इनसे सहायता ली जाती थी। इसी से इनके पद और इनकी महत्ता का परिचय मिल जाता है।

श्रेणी के मुख्य झगड़ों का निपटारा महाश्रेष्ठि करता था जो कोषाध्यक्ष होता था* और शायद श्रेणी-मुख्यों का भी मुख्य होता था। प्राचीन काल में वस्तु-विनिमय ही व्यापार का प्रधान साधन था। उस समय मुद्रा का पता नहीं मिलता। पर जातक काल में वस्तु-विनिमय धीरे धीरे लुप्त हो चला था। इस संबंध में विद्वानों में मत-भेद है। डा० रिस् डेविड्स का मत है कि मुद्रा-प्रणाली का उत्थान (जो सरकार द्वारा नियमित और नियंत्रित हो) नहीं हुआ था। परंतु कुछ विद्वानों का मत है कि जातकों में भिन्न भिन्न मुद्राओं के नामों का उल्लेख मिलता है जो इस बात का प्रमाण है कि किसी न किसी रूप में मुद्रा का प्रयोग उस काल में होता था†। जातकों के अध्ययन से निम्नलिखित मुद्राओं‡ का पता चलता है—

---

* महाश्रेष्ठी के कोषाध्यक्ष होने में संदेह है। सं०

† मुद्रा का प्रचार अवश्य होता था, इसमें संदेह नहीं; किंतु संदेह इस बात में है कि मुद्रा सरकार द्वारा नियमित थी अथवा नहीं; और भिन्न भिन्न प्रकार की मुद्राओं का सुव्यवस्थित चलन था कि नहीं। सरकार द्वारा नियंत्रित मुद्रा का संतोषजनक प्रमाण अभी तक प्राप्त नहीं। सं०

‡ देखो—Economic Conditions in Ancient India; Chap. VI by Samaddar.

(१) कहापन, (२) निक्ख, (३) मासक, (४) अद्धमासक, (५) काकनीक, (६) काल कहापन और (७) सुवन्न—सुवन्न मासक।

इन मुद्राओं की क्या तौल थी, कैसी शकल थी, क्या मूल्य था आदि विषयों की पूरी जानकारी नहीं मिलती। पर कुछ लोगों का मत है कि ताँबे और सोने दोनों प्रकार के सिक्के थे। परंतु फिर भी, इन विषयों में मतभेद होते हुए भी, लोग धीरे धीरे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि किसी न किसी रूप में मुद्रा-प्रणाली अवश्यमेव वर्तमान थी।

मुद्रा-प्रणाली के सिवा वर्तमान काल के समान व्यापार का एक आधार (साख) उस समय में भी मौजूद था। बड़े बड़े व्यापारी, प्रसिद्ध धनी, जनता के विश्वासी समृद्ध लोग व्यापार का कार्य हुंडियों (Exchange Bills अथवा डाक्टर आर० डेविड्स के कथनानुसार Letter of Credit) से करते थे। इन हुंडियों का उल्लेख मिलता है। वर्त्तमान समय में व्यापार का यह एक प्रधान स्तंभ—उसका मुख्य आधार है। सारा व्यापारी संसार अपना कार्य आज हुंडियों द्वारा बड़ी सुविधा और आसानी से चलाता है। परंतु इन हुंडियों का एक प्रधान अंग सूद की दर भी है। उस काल में भी सूद का जिक्र मिलता है। परंतु सूद की क्या दर निश्चित थी, इसका पता नहीं लगता। कुछ काल बाद की धर्मपुस्तकों, जैसे स्मृतियों आदि, में तो सूद का जिक्र और उनकी निश्चित

दर का भी उल्लेख मिलता है। परंतु ईसा के पूर्व पाँचवीं या छठी शताब्दी में—जो मौर्य्य काल के आरंभ के पूर्व का युग है—सूद का उल्लेख मिलते हुए भी उसकी निश्चित दर का कोई पता नहीं चलता।

ईसा के पूर्व की पाँचवीं शताब्दी की आर्थिक स्थिति के वर्णन का अंत करने के पूर्व इस विषय पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए कि व्यापार आदि के लिये जो मार्ग बने थे, उनकी क्या दशा थी और किन किन दिशाओं से, किन किन रास्तों से व्यापार होता था। इस विषय पर लिखते हुए डाक्टर रिस् डेविड्स साहब ने तत्कालीन व्यापारिक रास्तों का विवरण इस प्रकार दिया है। वे तीन व्यापारिक मार्गों का वर्णन करते हैं—

(१) उत्तर से दक्षिण पश्चिम का व्यापार श्रावस्ती से प्रतिष्ठान (पैठान) तक होता था। उनका कहना है कि इन दोनों स्थानों के मध्य में कुछ और मुख्य स्थान भी पड़ते थे जहाँ व्यापारियों का ठहराव होता था। अगर दक्षिण से आरंभ किया जाय तो माहिस्सती (माहिष्मती), उज्जयिनी, विदिशा, कौशांबी और साकेत मुख्य स्थान पड़ते थे जहाँ व्यापारीगण ठहरते थे।

(२) उत्तर से दक्षिण पूर्व की तरफ़ का व्यापारिक मार्ग श्रावस्ती से राजगृह तक जाता था। इन दो प्राचीन और प्रसिद्ध स्थानों को एक करनेवाले किसी एक सीधे मार्ग का पता नहीं चलता। ऐसा अनुमान किया जाता है कि पर्वत की

उपत्यकाओं में ही रास्ता था, जो वैशाली से उत्तर तक जाता था और पुनः दक्षिणाभिमुख होकर गंगा तक आता था। इन दो स्थानों के मध्य में कुछ प्रसिद्ध नगर पड़ते थे जहाँ व्यापारियों का पड़ाव पड़ता था। यदि श्रावस्ती से आरंभ करके इन स्थानों का नामोल्लेख किया जाय तो सिताव्य, कपिलवस्तु, कुशिनारा, पावा, हस्तिग्राम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालंद आदि स्थान पड़ते थे।

(३) पूर्व से पश्चिम का मुख्य मार्ग नदियों के मध्य में था जिसे पूरा करने के लिये नौकाएँ होती थीं, जो किराए पर भी चलती थीं तथा अपनी निज की भी होती थीं। मार्ग के लिये गंगा का प्रयोग ऊपर की तरफ पश्चिम में सहजाति तक तथा यमुना का कौशांबी तक होता था; और नीचे की ओर मगध तक ही नदी द्वारा व्यापारिक मार्ग परिमित था। पर बाद की पुस्तकों में यही मार्ग गंगा के समुद्र-संगम तक अथवा ब्रह्मदेश के किनारों तक अनुमान किया जाता है।

इन मुख्य स्थानों के अतिरिक्त डा० डेविड्स के मतानुसार कुछ उपमार्ग भी थे जिनके द्वारा व्यापारी लोग विदेह से गांधार, मगध से सौवीर, भरुकच्छ से ब्रह्मदेश के किनारों तक जाते थे; तथा काशी से ब्रह्मदेश के किनारों तक जलमार्ग का भी उपयोग होता था।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरणों द्वारा इस परिणाम पर पहुँचा जा सकता है कि जातक काल में भारतीय व्यवसाय की दशा

अच्छी थी, अर्थ संपादन के उपायों का नवीन अनुसंधान वर्तमान था, देश समृद्धिशाली था, धनवान् था, मनुष्यों की रहन सहन आनंद-परिपूरित तथा पूर्ण संतोषप्रद थी। आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति हो जाया करती थी; धन—संपत्ति—का उपार्जन प्रचुर मात्रा में होता था; जीवन की आवश्यक सामग्री सहज में तथा कम मूल्य पर मिलती थी; फल यह होता था कि धन की बचत होती थी। श्री जे० एन० समाद्दार महाशय का कथन है—"चौबीस कहापन में एक जोड़ी बैल, एक सौ कहापन में एक दास और आठ ताम्रमुद्रा में एक गाड़ी किराए पर मिल जाया करती थी। एक क्षुद्र ताम्रमुद्रा के खर्च करने से मात्रा से अधिक घी या तेल मिल जाया करता था।" इन विशेषताओं को देखते हुए इस काल की महँगी और अकाल से प्राचीन आर्थिक स्थिति का कोई मुकाबला नहीं हो सकता। देश उन्नत, प्रसन्न, धनी और समृद्धिशाली था, और व्यापारी उत्पादक, प्रयत्नशील तथा संपन्न थे।

प्राचीन काल में, ईसा के पूर्व की पाँचवीं शताब्दी में भारत की जो आर्थिक स्थिति थी, भारतीय समाज की जो आर्थिक दशा थी, वह मौर्य काल में और भी उन्नत हो गई थी। उस समय अर्थ-विज्ञान तथा अर्थ-संपादन की क्रियाओं या अर्थ-उपार्जन के उपायों का जो उत्थान आरंभ हुआ था, उसी की उन्नति, उसी की वृद्धि और उसी की पूर्णता मौर्य्य काल में हुई थी।

मौर्य्य काल में भारतीय समाज में, उसकी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी स्थितियों में परिवर्तन आरंभ हो चुका था। समाज के किसी अंग-विशेष में क्रांति हुई, किसी की उन्नति हुई, किसी का नवीन रूप में संग्रथन हुआ और किसी का उत्थान हुआ। चंद्रगुप्त सरीखे प्रबल और योग्य शासक द्वारा देश भर में एकछत्र, एकराष्ट्र, एक साम्राज्य की स्थापना हुई तथा कौटिल्य सरीखे चतुर राजनीति-विशारद और आर्य सभ्यता के हिमायती मंत्री द्वारा समाज का संचालन आरंभ हुआ। ऐसे समय में भारत की सभ्यता, उसके समाज के एक विशेष तथा मुख्य अंग की क्या दशा हुई, जातक काल की परिवर्तित तथा संस्कृत स्थिति में क्या परिवर्धन तथा उन्नति हुई, इसका पता लगाना ही इस प्रकरण में हमारा ध्येय है। जातक काल की दशा का संक्षेप में वर्णन तथा उसका दिग्दर्शन हो गया है। जातक काल, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, मौर्य्य काल के आरंभ का काल था। जातकों में वर्णित तथा कथित सामाजिक स्थिति ही अधिकतर अथवा प्रायः उस काल की भी स्थिति रही होगी। परंतु सौभाग्य से हमारे सामने मौर्य्य काल के संबंध में, उसके इतिहास का आधार स्वरूप, कौटिल्य का अपूर्व ग्रंथ भी प्राप्त हो गया है। उसके द्वारा मौर्य्यकालीन स्थिति पर विशेष रूप से प्रकाश पड़ता है। अब हमें उसके द्वारा वर्णित विवरण पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए जिससे तत्कालीन स्थिति पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जायगी।

साम्राज्यवादी मौर्य्यों के काल की आर्थिक स्थिति का और उनकी उन्नति का वर्णन हमें अर्थशास्त्र (शासन-व्यवस्था की परिचालना का विवरण) से मिल जाता है। अर्थशास्त्र में कतिपय पदाधिकारियों के नाम आते हैं जिनका कर्तव्य देश में राज्य के उन कार्य्यों की उन्नति करना, उनमें सहायता करना था, जिनके द्वारा देश की आर्थिक स्थिति सुधर सकती और आर्थिक उन्नति हो सकती थी। कुछ पदाधिकारियों की उनके पद और कर्त्तव्य सहित विवेचना की जाती है, जिससे ज्ञात हो जायगा कि उस काल में समाज ने और समाज की शासक संस्था ने देश की आर्थिक दशा को किस ढाँचे में ढाला था।

(१) इन पदाधिकारियों में एक आकराध्यक्ष होता था। आकर का एक विभाग ही अलग था जिसका यह अध्यक्ष होता था। इस अध्यक्ष को बहुमूल्य पत्थरों को पहचानने और उन्हें खानों से निकलवाने का प्रबन्ध करना पड़ता था। अपने अधीन कार्य्य करनेवाले—खान खोदनेवाले—मजदूरों के खान खोदने के औजारों का, खानों की उन्नति करने आदि का तथा खान संबंधी सभी आवश्यक विषयों का ज्ञान इसके लिये आवश्यक था। इस स्थान पर हम यह देखते हैं कि धातुओं और बहुमूल्य पत्थरों का उत्पादन राज्य के हाथ में था। खनिज पदार्थों की उत्पत्ति राज्य करता था तथा आकर विभाग का अध्यक्ष राजपदाधिकारी होता था। अर्थशास्त्र के सिवा मेगा-

स्थनीज के वर्णन से भी पता चलता है कि प्राचीन मौर्य्यकाल में खानों का भारतीयों को पूर्ण ज्ञान था और सोना, चाँदी ताँबा, लोहा, आदि प्राय: सभी मुख्य धातुओं का उत्पादन खानों द्वारा प्रचुर मात्रा में होता था। केवल पर्वत और सुंदर साफ भूमि में ही खानों का कार्य नहीं होता था, बल्कि इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि समुद्र के अंदर भी आकर विभाग ने अपना अधिकार जमाया था; और बहुमूल्य पत्थर, हीरा, मोती, नमक आदि की खोज की जाती थी। उस समय भी भारत-वासियों ने अपनी बुद्धिमानी का परिचय, इस प्रकार प्राकृतिक वस्तुओं पर अधिकार जमाकर, दिया था।

कौटिल्य ने जिस प्रकार धातुओं का विभाग किया है, जिस प्रकार उनके शुद्ध और स्वच्छ करने की रीति बताई है, उससे यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है कि मौर्य्य काल में अपने देश और समाज की संपत्ति की वृद्धि करने के इस उपाय का लोगों को कितना ज्ञान था। इस आकर विभाग से राज्य को प्रचुर आय होती थी। कौटिल्य के मतानुसार राजा को उन खानों को अपने हाथ में लेना चाहिए जिनमें कम श्रम और कम ही पूँजी लगे; तथा जिन खानों में अधिक श्रम और अधिक पूँजी की आवश्यकता जान पड़े, उनको, उत्पत्ति का कुछ निश्चित भाग लेकर अथवा निश्चित कर वसूल करके, दूसरों के सपुर्द कर दे। इस प्रकार आकर विभाग देश में था जिसके द्वारा खानों की व्यवस्था की जाती थी और उससे

धात्विक द्रव्यों की उत्पत्ति की जाती थी, जिससे देश की संपत्ति बढ़ती थी और राज्य की आय का एक मार्ग होता था।

(२) एक धात्विकाध्यक्ष* भी नियुक्त किया जाता था। इसका कर्त्तव्य यह था कि धातु पदार्थों (जैसे लोहा, ताँबा, सीसा, पारा आदि वस्तुओं) के द्वारा जो चीजें बनाई जाती हों, उनके बनाने में सहायता करे और उनकी उत्पत्ति की उन्नति करे।

(३) लक्षणाध्यक्ष (Superintendent of Mint) का भी उल्लेख मिलता है जिसका कर्तव्य रौप्य और ताम्रमुद्राओं का निर्माण कराना था।

(४) मुद्राधिकारी† नियत किया जाता था जो मुद्रा को नियमित और नियंत्रित करके उसके विनिमयमापक होने का यत्न करता था। जो कार्य्य और कर्त्तव्य मुद्राधिकारी के थे, उनसे प्रत्यक्षरूपेण पता लग जाता है कि उस काल में मुद्रा का यथेष्ट प्रयोग होता था और मुद्रा के शुद्ध रखने का भी पूर्ण प्रयत्न होता था।

* इसके लिये लौहाध्यक्ष शब्द प्रयुक्त था। लौह शब्द सुवर्ण और रौप्य को छोड़कर अन्य धातुओं के लिये साधारणतया व्यवहृत होता था। सं०

† इसके लिये कौटिल्य ने "रूपदर्शक" शब्द का उपयोग किया है। इस पदाधिकारी का कर्त्तव्य उतना स्पष्ट नहीं जितना कि लेखक महोदय समझते हैं। सं०

(५) सामुद्रीय आकर विभाग ही अलग था जिसका एक अलग अध्यक्ष होता था जो खन्यध्यक्ष कहलाता था। उस अध्यक्ष के दो कार्य होते थे। पहला काम तो यह था कि वह नमक, हीरे, मोतियों और बहुमूल्य पत्थरों का संग्रह करता था; और दूसरा काम उसके जिम्मे यह था कि वह इन वस्तुओं के व्यापार तथा व्यवसाय को ठीक तथा सुचारु रूप से परिचालित करता था।

(६) मौर्य्य काल में एक सुवर्णकार का भी पता चलता है जिसका कार्य सुवर्ण तथा चाँदी के आभूषणों आदि का निर्माण करना था। इन पर भी एक अध्यक्ष होता था जो ऐसे कारीगरों से काम लेता जो सुवर्ण और रजत मुद्राएँ बना सकते थे, जिनका निर्माण करना राजाज्ञा के बिना अपराध समझा जाता था। मुद्राओं का वजन, उनकी तौल, प्रामाणिक होती थी। यदि उसमें एक माशे की भी कमी हो जाती तो उसका भयंकर दंड मिलता था।

(७) देश में उस समय जो कृषि आदि होती थी, उसकी उत्पत्ति का कुछ भाग कर के रूप में लिया जाता था। यह मालूम होता है कि राज्य की ओर से भी कुछ कृषि की जाती थी। इस खेती की जो उपज आदि होती थी, वह एक अलग विभाग के प्रबंध के अंतर्गत रखी जाती थी। इस विभाग का भी एक अध्यक्ष होता था*। उसका यह भी कार्य्य था कि इस प्रकार से एकत्र की हुई सामग्री की रक्षा करे

* इसे कोष्ठागाराध्यक्ष कहते थे। सं०

और उसका कुछ भाग अलग रख दे, जिसके द्वारा यदि कहीं अकाल पड़े, तो उसके निवारण की चेष्टा की जाय* ।

(८) आर्थिक क्षेत्र में सब से अधिक प्रधानता वाणिज्य व्यवसाय की होती है । हम देखते हैं कि इस ओर भी प्राचीन भारतीयों का ध्यान गया था तथा मौर्य्य काल में वाणिज्य व्यवसाय का एक अलग विभाग ही वर्त्तमान था । इसका भी एक अध्यक्ष होता था† । उसका कार्य्य जल वा स्थल से उत्पन्न हुई वस्तुओं की माँग और उनके मूल्य आदि का पता लगाना था और मूल्य आदि की घटती बढ़ती का भरसक नियंत्रण करना था । व्यापार में सहायता देना, उसे उत्तेजित तथा उन्नत करना, स्थानीय उपज की वस्तुओं को केंद्रस्थ कराना और अन्य बाजारों में वस्तुओं को बेचने के लिये भेजना आदि उसके कार्य्य के अंग थे । इस विभाग के अध्यक्ष को बड़े चतुर और अर्थविज्ञान-वेत्ता होने की आवश्यकता होती थी; क्योंकि अन्य बाहरी वस्तुओं की स्पर्धा से किस प्रकार अपने स्थानीय उत्पादकों की रक्षा की जाय, किस प्रकार बाहरी वस्तुओं से लाभ उठाया जाय, आदि विषयों की जाँच पड़ताल उसे करनी पड़ती थी । अन्य देशों में अपना माल भेजकर लागत मूल्य, मार्ग तथा अन्य व्ययों के दे चुकने पर लाभ हो सकता है

* मूल में केवल "जानपदानां स्थापयेत्" वाक्य है जिसका अर्थ स्पष्ट नहीं । सं०

† इसे पण्याध्यक्ष कहते थे । सं०

अथवा नहीं, इसकी जाँच करना और उसके अनुसार व्यापार का संचालन आदि करना इसी विभाग के अधीन था। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय अपने समय के अनुसार कितने ही नियमों के द्वारा अपने वाणिज्य व्यवसाय की उन्नति का यत्न किया करते थे।

(६) वनों या जंगलों के द्वारा राज्य को प्रचुर आय होती थी और देश की उपज में जंगल भी एक मुख्य अंग थे। वर्त्तमान समय में, मुख्यतः भारतवर्ष में, आज भी जंगलों के द्वारा सरकार को आय होती है, और जंगल राज्य की विशेष संपत्ति समझे जाते हैं। उस समय जंगलों का अध्यक्ष* भी नियुक्त किया जाता था। उसका कर्त्तव्य यह होता था कि जंगलों में वृक्षों आदि की उत्पत्ति के साधनों की उन्नति करने का यत्न करे और उत्पादक कार्यों का संचालन करावे। राजाज्ञा के बिना यदि कोई किसी प्रकार जंगलों को, अथवा उनकी उत्पत्ति में, हानि पहुँचाता तो उसे दण्ड दिया जाता था, जुर्माना किया जाता था अथवा उससे हर्जाना वसूल किया जाता था। यह एक विलक्षण बात है कि जंगलों के द्वारा केवल वनस्पति, पुष्प और सुगंधियों आदि के ही विक्रय अथवा उत्पत्ति से लाभ नहीं उठाया जाता था, बल्कि चमड़े, पशुओं की हड्डियों और सींग आदि की भी खोज की जाती थी; और इनसे भी लाभ उठाया जाता था।

* इसे कुप्याध्यक्ष कहते थे। सं०

(१[illegible]) शुल्काध्यक्ष एक प्रधान विभाग का अधिकारी होता था। नगर के फाटक पर उसका शुल्क-गृह हुआ करता था। व्यापारी यदि कोई वाणिज्य व्यवसाय की वस्तु लेकर आते, तो शुल्क विभाग के कर्मचारी इस बात का पता लगाते और लिखते कि यह व्यापारी कौन है, कब आया, इसके साथ कौन सी वस्तु कितनी है आदि। आयात तथा निर्यात की वस्तुओं के लिये दृढ़ता से नियम पालन किए जाते थे। वस्तुओं का विभाग तीन प्रकार से होता था,—(१) बाह्य (अर्थात् जो कहीं बाहर से आती हों, परदेश की हों); (२) आंतरिक (या स्थानीय अथवा जो वहीं की बनी हों); और (३) वह जो विदेशों से निर्यात की गई हों। इन सभी वस्तुओं पर बिना मुहर लगवाए किसी को बेचने का अधिकार नहीं था। जो लोग इस नियम के प्रतिकूल चलते, उन्हें कभी कभी शुल्क का दूना दंड स्वरूप देना पड़ता था। वस्तुओं की तौल, नाप, या गणना की जाती थी। इन वस्तुओं का मूल्य भी निर्धारित रहता था। उस मूल्य से बढ़ाकर बेचनेवालों को भी दंड देना पड़ता था। कुछ वस्तुओं—जैसे दान की अथवा पूजा की सामग्री आदि—पर शुल्क माफ भी कर दिया जाता था। आयात करनेवाले उत्साहित किए जाते थे, ऐसा ज्ञात होता है; पर इसका मतलब यह नहीं है कि निर्यात करनेवालों को हतोत्साह किया जाता हो। हाँ, इतना अवश्य है कि उस काल में निर्यात से अधिक आयात करना अच्छा समझा जाता था। लोगों का यह

विचार था कि आयात करने का तात्पर्य्य यह है कि दूसरे देशों की आवश्यक वस्तुएँ हमारे यहाँ आती हैं।

(११) भारतवर्ष में बुनने की कला बहुत प्राचीन काल से ही विद्यमान थी तथा उसको राज्य की ओर से उत्साहित भी किया जाता था, उसकी सहायता भी की जाती थी। जो लोग कपड़ा, सिल्क आदि बुनते थे, वे पारितोषक पाते थे, उत्साहित किए जाते थे। इस विभाग का एक अध्यक्ष होता था* जिसका यह कर्तव्य था कि ऐसे गुणी मनुष्यों से कार्य्य ले जो सुंदर वस्त्र आदि निर्माण कर सकते हों। वर्त्तमान काल के अनुसार उस समय भी जो मनुष्य निर्धारित समय से अधिक कार्य करता था, उसे अधिक पुरस्कार और अधिक वेतन देने की प्रथा थी। इस विभाग का संघटन बड़ी उन्नत अवस्था में रहा होगा; और इसको कदाचित् राज-समाज के द्वारा अधिक उत्साह मिलता था, जिसके परिणाम-स्वरूप भारतवर्ष में सुंदर वस्त्र निर्माण-कला की बड़ी उन्नति हुई थी। उस काल के यूनानी लेखकों ने, जो स्वयं बड़े सभ्य और प्रसिद्ध सौंदर्य्योपासक थे, भारतीय वस्त्रों की बड़ी प्रशंसा की है। संभवतः हर प्रकार के रेशमी, ऊनी, सूती आदि वस्त्रों का निर्माण प्रचुर मात्रा में होता था।

(१२) कृषि-विभाग भी स्थापित था। खेती तो भारत में बहुत प्राचीन काल से ही अर्थोपार्जन का मुख्य साधन रही

* इसे सूत्राध्यक्ष कहते थे। सं०

है। इस विभाग का एक अध्यक्ष होता था* उसे स्वयं कृषि-शास्त्र का ज्ञान रखना पड़ता था और प्रजा में—जनता में—कृषि-विज्ञान का प्रसार और उसकी उत्पत्ति में सहायक होना इस अध्यक्ष का प्रधान कर्त्तव्य था।

(१३) सुराध्यक्ष का भी एक अलग विभाग उस समय में विद्यमान था। सुरा-निर्माण वर्त्तमान काल की भाँति राज्य के हाथ में था। सुराध्यक्ष का प्रधान कार्य्य यही था कि वह सुरा-निर्माण के कार्य्य का निरीक्षण करे. उसके भोग और उसकी आवश्यकता के अनुसार स्थान स्थान पर उसके बिकवाने का यत्न करे। इसकी बिक्री का बड़ा ही अच्छा प्रबंध था। दूकान के बाहर कोई शराब नहीं पी सकता था। उसके पीने के लिये एक स्थान बनवा दिया जाता था जिसे 'पान भूमि' कहते थे। साथ ही सुरा को गांव के बाहर ले जाने की आज्ञा नहीं थी और न उनकी दूकानें ही निकट निकट होती थीं। सुरा विभाग से राज्य को यथेष्ट आय होती थी; पर फिर भी केवल आय के लिये ही समाज में यह दोष व्यापक रूप न धारण कर ले, इसी के लिये इतनी रुकावटें थीं। ताजी सुरा का ही विक्रय होना चाहिए, ऐसा प्रबंध था।

(१४) इन विभागों और अध्यक्षों के सिवा एक बड़ा ही मुख्य और प्रधान विभाग नौका का था, जिसका एक अध्यक्ष

* इसे सीताध्यक्ष कहते थे। सं०

होता था जो नौकाध्यच्च के नाम से प्रसिद्ध था। नौकाध्यच्च इस बात का अनुमान किया करता था कि नदियों और समुद्र के द्वारा कितना व्यापार होता है और हुआ है। उसके जिम्मे यह कार्य्य था कि वह उन नगरों की, जिनसे व्यापारिक संबंध है, आचार विचार की तथा उन नगरों के अध्यच्चों की आज्ञाओं की जानकारी रखे जिसमें व्यापारिक समुदाय को उससे असुविधा न हो। इस प्रकार से सामुद्रीय या नौका-व्यापार पर बड़ा ध्यान रक्खा जाता था। यदि दुर्भाग्य से या प्रकृति के कोप से कोई नष्ट भ्रष्ट नौका तीर के सन्निकट किसी नगर तक पहुँच जाती तो नौकाध्यच्च उसकी हर प्रकार से सहायता करता और उस पर बड़ी दया दिखलाता था। यदि उनकी व्यापारिक वस्तुओं की हानि हुई होती तो उनका शुल्क च्चमा कर दिया जाता था। विदेशी व्यापारियों अथवा प्रसिद्ध व्यापारियों के लिये विशेष सुविधा का ध्यान रखा जाता था। जलमार्ग द्वारा होनेवाले व्यापार को आकस्मिक च्चति न होने पावे, इसके लिये भी कई नियम बनाए गए थे। वर्षा ऋतु में नदियों द्वारा व्यापार के लिये यात्रा करना मना था*। उस समय उन्हीं नौकाओं को यात्रा करने की आज्ञा थी, जिन्हें राज्य द्वारा प्रमाणपत्र प्राप्त होते थे। वे जहाज राज्याधिकार में समझे जाते थे और उनका संचालन राज्य की ओर से होता

* कौटिल्य शास्त्र से तो वर्षा ऋतु में, आषाढ़ और कार्तिक में, नावों का चलना स्पष्ट है। सं०

था। यदि कर्मचारियों की असावधानी अथवा मरम्मत न होने से सामान की हानि होती, तो राज्य उसका उत्तरदायी होता और उसकी क्षति-पूर्ति राजकोष द्वारा की जाती थी।

समुद्रमार्ग से अथवा जल द्वारा व्यापार होने तथा उसकी पूर्ण उन्नति का एक बड़ा प्रमाण यह भी मिलता है कि उस समय इसके द्वारा जो कर वसूल होता था और राजा को जो आय होती थी, वह प्रचुर मात्रा में थी और करों की सूची भी काफी लंबी चौड़ी होती थी।

समुद्र अथवा नदीतट-वर्त्ती और झीलों आदि के किनारे पर बसे हुए गांवों अथवा नगरों से एक प्रकार का निश्चित कर वसूल किया जाता था। वर्तमान काल में भी समुद्र के तट पर के बन्दरगाहों में व्यापारिक धूमधाम अधिक होने से उन स्थानों के द्वारा राज्य को अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक आय होती ही है। इसी कारण इस बात को ध्यान में रखकर प्राचीन राजनीति विशारद आचार्य्य चाणक्य ने इस प्रकार के कर-प्रक्षेपण करने और वसूल करने की प्रथा का निरूपण किया है। मछुवों को मछली मारने अथवा अपने कार्य्य के लिये नौका आदि किराए पर लेने के कारण अपनी उत्पत्ति का षड्भाग राज्य को, कर के रूप में, देना पड़ता था। बन्दर-गाहों में लगे हुए कर व्योपारी लोग भी दिया करते थे। राज्य की नावों के द्वारा तीर पर पहुँचने पर यात्रियों को निश्चित कर, खेवाई के रूप में, देना पड़ता था। राजकीय

नौकाएँ किराए पर उन लोगों को दी जाती थी जो उन्हें शंख, मोती, मछली, आदि के निकालने वा पकड़ने के लिये ले जाना चाहते थे। इनके अलावा ऐसी भी नौकाएँ थीं जिनके द्वारा आदमी अपना निजी कार्य्य करें और निज की नौकाएँ रखें। उसमें राज्य हस्तक्षेप नहीं करता था। इसके अलावा और भी अन्य ऐसे बहुत से कर थे जिनके द्वारा तत्कालीन व्यापारिक उन्नति और व्यापारिक अधिकता का पता लगता है।

यदि कोई चौपाया माल और असबाब से लदा हुआ पार उतारा जाता तो १ माष करके रूप में देना पड़ता था। यदि कोई सिर पर लादकर पार उतरता तो २ माष, ऊँट, भैंसे आदि की सहायता से पार करने पर ४ माष, गाय घोड़े से नौका पार कराने पर २ माष कर रूप में लिया जाता था। इस प्रकार ये ही कर बड़ी नदियों में द्विगुण रूप में वसूल किए जाते थे। इन बातों से यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है कि देश के वाणिज्य-व्यवसाय की बड़ी उन्नति थी, उसकी बड़ी अधिकता थी, और बड़ी धूम से व्यापार होता था संभवतः यही नियम, यही प्रकार, अशोक के राज्य-काल में भी रहा होगा। बल्कि ऐसा अनुमान किया जाता है कि विदेशी व्यापार, अशोक के काल में और भी अधिक बढ़ा-चढ़ा रहा होगा। उसके विदेशों से संबंध, उसके सीरिया, मिस्र, सिरीन, मेसिडोनिया, इपिरस, लंका आदि में गए हुए धार्मिक प्रचारक, अथवा उनसे उसके धार्मिक संबंध, इस बात के

द्योतक है कि उसके काल में उन देशों से इसका व्यापारिक संबंध भी अवश्य रहा होगा।

बोधिसत्वावदान की एक कथा है जिसमें यह वर्णन है कि कुछ भारतीय व्यापारी, जो पूर्वीय समुद्रों में जलमार्ग के द्वारा सुदूर देशों में व्यापार किया करते थे, कुछ समुद्रीय लुटेरों द्वारा लूट लिए गए थे। उन्होंने अपनी दु:खकथा अशोक को सुनाई थी और उससे कहा था कि अगर राज्य द्वारा हमारे रक्षण का कोई विशेष प्रबंध न होगा, तो हम इस कार्य्य को छोड़ देंगे और अन्य उपायों द्वारा जीविका निर्वाह करेंगे। परंतु उसे छोड़ देने के कारण देश और राजा को जो आर्थिक हानि होगी, उसके जिम्मेदार राजा ही होंगे। इस प्रकार प्राचीन मौर्य्य काल में जलमार्ग द्वारा उन्नति पर पहुँचे हुए विदेशी व्यापार का पूरा विवरण मिल जाता है।

जल-मार्ग

चाणक्य ने बड़े विस्तार से समुद्रीय जल-मार्गों और जल-यानों का वर्णन किया है। अर्थशास्त्र बतलाता है कि समुद्री और जलमार्गों को संयानपथ कहा जाता था। इन्हीं संयानपथों के द्वारा भारतीय व्यापारी बड़े बड़े जहाजों से विदेशी व्यापार किया करते थे। उस काल में खतरे के बीच से निश्चित संयानपथों का होना और उनके द्वारा विदेशी व्यापार होना भारत की प्राचीन आर्य्य सभ्यता की महत्ता और नौकानयन

की पराकाष्ठा की सूचना देता है। आचार्य्य कौटिल्य ने जलयानों का भी वर्णन किया है। समुद्र में बड़े बड़े जहाज व्यापार के हेतु आते जाते थे। उन्हों में से एक प्रकार के बड़े समुद्रीय व्यापारी जलयान का नाम "संयात्वनाव" मिलता है। इनके द्वारा व्यापार होता था और तीरवाले नगर अथवा बन्दरगाह में पहुँचने पर उन्हें शुल्क देना पड़ता था।

"प्रवहटा" भी समुद्र में ही आने जानेवाले एक प्रकार के बड़े जहाज होते थे जो व्यापार करते थे। इन दो जहाजों का होना इस बात को भी सिद्ध करता है कि समुद्रों द्वारा विदेशी व्यापार उस समय भारत में वर्त्तमान था। समुद्र में समुद्रीय डाकू भी होते थे। उनके शासन के लिये चाणक्य ने लिखा है—"हिंस्तिका: निर्घातयेत्"। उनके जहाज हिंस्तिका कहलाते थे जो व्यापारी जहाजों को लूट लेते थे।

इनके अलावा और भी बहुत सी नौकाओं का नामोल्लेख मिलता है जिनमें नदियों में चलनेवाली "महानाव", "क्षुद्रनाव" आदि थीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल में ही नौका निर्माण एक प्रसिद्ध और मुख्य कार्य्य रहा होगा। साथ ही साथ नौका-संचालन और नौका द्वारा व्यापार-वाणिज्य, विदेशी और स्वदेशी दोनों प्रकार के प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। उनकी अवस्था बड़ी उन्नत थी और उनसे राजा को, देश को, बड़ा लाभ था। देश में धन का आगमन था, लोग समृद्धिशाली और संपत्तिवान् थे।

कौटिल्य के सिवा यूनानी लेखकों के वर्णन से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि नौकानयन एक प्रमुख और उन्नत व्यवसाय था। सिकंदर के पश्चिमीय भारत के आक्रमण के बाद उसकी सेना के एक भाग का भारतीय नौका द्वारा सिंध और झेलम नदी को पार करने का वर्णन हम ग्रीक लेखकों के द्वारा पाते हैं। एरियन का कहना है कि इस बेड़े में ८०० भारतीय जहाज थे। प्रामाणिक इतिहासकार टालमी का कहना है कि इस बेड़े में २०० जहाज़ थे। जो हो, इतना अवश्यमेव सिद्ध हो जाता है कि भारतीय उद्योग धंधे और व्यवसाय में नौकानिर्माण और नौकानयन ने एक मुख्य और उन्नत अवस्था प्राप्त की थी।

स्थल-मार्ग

यह तो हुआ जलमार्ग द्वारा जलयानों से विदेशी व्यापार का संक्षेप में वर्णन। अब स्थल-मार्ग से होनेवाले व्यापार पर भी थोड़ा ध्यान देना आवश्यक है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में व्यापारिक स्थल मार्गों का वर्णन है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इस विषय पर विवाद छेड़ा है कि प्राचीन आचार्य्य लोग "हैमवत" को—अर्थात् उत्तर की ओर जानेवाले मार्ग को—अच्छा समझते हैं; उनके मत से वह उत्तरवाला मार्ग अधिक लाभदायक और अच्छा है। पर चाणक्य अपनी सम्मति देता है कि "दक्षिण-पथ" अधिक उपयोगी और लाभदायक है।

और साथ ही साथ प्राचीन आचार्य्य जल-मार्ग अच्छा समझते हैं; पर कौटिल्य के मतानुसार स्थलमार्ग ही अधिक सुविधाजनक, लाभदायी तथा उपयोगी है। कौटिल्य का कहना है कि जलमार्ग अधिक भयंकर होते हैं। उन मार्गों में अधिक रुकावटें हैं; वे बिलकुल अरक्षित हैं। पर स्थलमार्गों में ये कोई दोष नहीं हैं। और साथ ही साथ दक्षिण-पथ अधिक उपयोगी है; क्योंकि केवल घोड़े, चमड़े आदि को छोड़कर शंख, मोती, मणि, सोना आदि दक्षिण-पथ से ही आते हैं जो आर्थिक दृष्टि से अधिक उपयोगी और लाभदायक हैं।

दक्षिण पथ में भी आचार्य के मत से वे मार्ग अधिक उपयोगी और महत्वशाली हैं जो खानों के निकट से गुजरते हैं। कारण कि उन स्थानों से आवागमन अधिक होता है। समुद्र की ओर जानेवाले मार्ग आज भी बड़े महत्वशाली और आवागमन से परिपूर्ण रहते हैं। इसी कारण दक्षिण-पथ का समर्थन कौटिल्य ने किया है। उनके विचार में राजनीतिक दृष्टि से भी दक्षिण पथ ही अधिक महत्वशाली है। उनका कहना है कि शत्रु पर आक्रमण के आधार ये ही पथ हैं, जिनके द्वारा व्यापार होता है, जिन पर आवागमन अधिक रहता है; क्योंकि उन्हीं मार्गों द्वारा गुप्तचरों का आना जाना, शस्त्र बल, युद्ध-सामग्री आदि का क्रयविक्रय अच्छी तरह हो सकता है।

संभवतः कौटिल्य की इस नीति के आधार पर कि स्थल-मार्ग ही अधिक उपयुक्त हैं, सड़कों की व्यवस्था अच्छी थी।

पाटलिपुत्र से लेकर पश्चिमोत्तर की सीमा तक एक सड़क ५०० क्रोश लंबी बनी थी। इस प्रकार सड़कों का विशेष रूप से प्रबन्ध था जिसका समर्थन कौटिल्य ने किया है और जिनके द्वारा व्यापार में अधिक सुविधा और सहायता मिलती थी।

इस प्रकार से स्थल-मार्ग और जल-मार्ग दोनों ही वर्तमान थे और दोनों का विशेष और समुचित प्रबन्ध था जिसके कारण अच्छी तरह व्यापार और वाणिज्य-व्यवसाय स्वदेश और विदेश दोनों स्थानों में स्थापित था जिसके परिणाम स्वरूप देश सुखी और समृद्ध था और उसकी आर्थिक स्थिति उन्नत थी।

एक और मुख्य विभाग था और उसका अध्यक्ष एक मुख्य पद पर था जिसका कार्य्य पासपोर्ट (Pass port) बाँटना था*। उससे पासपोर्ट पाने पर ही लोग देश के बाहर अथवा भीतर आ जा सकते थे। इस विभाग के द्वारा भी विदेशी आवागमन सिद्ध होता है।

भारतवर्ष में उत्पत्ति का सर्वप्रधान और मुख्य अंग कृषि रहा है। भारत अत्यंत प्राचीन काल से ही कृषिप्रधान देश रहा है। देश में कृषि होती थी। उसका एक विभाग भी था। उसमें सहायता करना उस विभाग के अध्यक्ष का कर्त्तव्य था। खेतिहरों को उनके कार्य्य के योग्य नई नई शिक्षाएँ देना, सहायता करना, हर प्रकार से कृषि की जाँच करना उनका काम था। परंतु कृषि के लिये सिंचाई का प्रश्न बड़े महत्व

* इसको मुद्राध्यक्ष कहते थे। सं०

का है। अतएव उसके लिये राज्य की ओर से विशेष ध्यान दिया जाता था तथा उसका विशेष प्रबन्ध किया जाता था। चंद्रगुप्त के शासन की यह एक विशेषता है तथा उसकी बुद्धिमत्ता और शासनयोग्यता का यह ज्वलंत उदाहरण है कि देश की, समाज की, राज्य की भलाई के लिये और उसकी सुख-समृद्धि के लिये उसने सिंचाई का एक विभाग ही अलग कर रखा था। मेगास्थनीज ने भी लिखा है—"भूमि के अधिकतर भागों में सिंचाई प्रचुर मात्रा में होती है और इसी कारण से साल में दो फसलें पैदा होती हैं।" आगे चलकर वह लिखता है—"राज्य के कुछ कर्मचारियों के जिम्मे यह कार्य है कि वे भूमि की नाप जोख और नदियों का निरीक्षण करें। वे उन नालियों और छोटी छोटी शाखा नहरों की देखभाल किया करते हैं जिनके द्वारा प्रधान नहरों का जल अन्य छोटी छोटी शाखा नहरों में भी जा सके जिसके द्वारा सब किसानों को जल अपने काम भर को मिल सके।" अर्थशास्त्र द्वारा भी उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में सिंचाई के चार प्रकारों का वर्णन किया है। (१) **हस्तप्रावार्तम** (अर्थात् हाथों द्वारा सिंचाई करना), (२) **स्कंधप्रावार्तम** (अर्थात् कंधों पर पानी ले जाकर सिंचाई करना), (३) **स्रोतयंत्रप्रावार्तम** (अर्थात् किसी प्रकार के यंत्रों द्वारा सिंचाई करना), (४) **नदीसरस्तडागकूपोद्धारम्** (अर्थात् नदी, तालाब, कूपादि द्वारा सिंचाई करना)।

इन सिंचाई के प्रकारों के अनुसार कर के रूप में भी राजा को कुछ देना होता था। सिंचाई का महसूल इन चार प्रकारों के अनुसार क्रमश: उत्पत्ति का पंचमांश, चतुर्थांश, तृतीयांश और चतुर्थांश* लिया जाता था। अर्थशास्त्र में कुल्या का नाम आता है जिसका अर्थ "कृत्रिम सरित्" अथवा नहर है† । इसके द्वारा यह ज्ञात होता है कि उस काल में नहरों का निर्माण होता था और उनके द्वारा कृषि में सहायता पहुँचाई जाती थी, खेत सींचे जाते थे, और बाँध बाँधे जाते थे, जिनके द्वारा पानी जमा किया जाता था, जिससे वर्षाकालीन जल एक दम न निकल जाय और वह जमा रहे जिससे गरमी में पानी के अभाव का अनुभव न हो। जल के लिये कूओं और तालाबों की भी मरम्मत हुआ करती थी। जल से ही खेती बारी हुआ करती है, वही उसका आधार है, इस कारण इस बात की पूरी चेष्टा की जाती थी और इसका पूरा प्रबन्ध किया जाता था कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आवश्यकतानुसार जल मिल सके। अर्थशास्त्र इस बात का भी उल्लेख करता है कि जहाँ नदी तालाब नहीं होते थे, वहाँ राजा के द्वारा विशेष प्रबन्ध करके उसे खोलने का यत्न किया जाता था।

---

* शामशास्त्री ने १/३ या १/४ लिखा है। परंतु डा० जोली ने अपने प्रकाशित मूल ग्रंथ में १/४ ही लिखा है। सं०

† देखो पं० जनार्दन भट्ट द्वारा लिखित और ज्ञानमंडल, काशी द्वारा प्रकाशित "अशोक के धर्म्मलेख।"

अशोक के काल में भी सिंचाई का प्रश्न राजदृष्टि से अंतर्धान नहीं हुआ था। काठियावाड़ के गिरनार में क्षत्रप रुद्रदामन का एक शिलालेख मिला है जिससे विदित होता है कि न केवल राजधानी की ही सिंचाई का ध्यान रखा जाता था, बल्कि मौर्य साम्राज्य के दूरस्थित प्रांतों पर भी दृष्टि रखी जाती थी और वहाँ की सिंचाई के प्रश्न पर मौर्य सम्राट् काफी ध्यान रखा करते थे। रुद्रदामन ने अपने लेख में लिखा है कि चंद्रगुप्त द्वारा नियुक्त किया हुआ पश्चिमीय प्रांतों का शासक पुष्यगुप्त था जिसने गिरनार की पहाड़ी पर एक नदी का बांध बनवाया था जिसके कारण वह झील रूप में परिवर्तित हो गई और उसका नाम सुदर्शन रखा गया। इस झील में से कुछ नहरें भी निर्मित की गईं उसके काल में उसका प्रतिनिधि यवन तुषास्फ उन प्रांतों का शासक था और उसी की देखभाल में ये नहरें निकाली गईं। ये नहरें और झील, जो मौर्य-सम्राटों की कृति थी, प्राय: ४०० वर्ष तक कायम थीं। इसके अनंतर वे नष्ट हो गईं जिसे क्षत्रप रुद्रदामन ने पुन: बनवाया और उसी का इतिहास उस शिलालेख में लिखवाया। इसके बाद कालचक्र में पड़कर प्राचीन भारत की उन्नति का वह चिह्न कहाँ और कब नष्ट हो गया, इसका कुछ पता नहीं। पर रुद्र-दामन के उक्त शिलालेख के द्वारा इतना अवश्यमेव सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन भारत में मौर्य सम्राटों द्वारा देश में नहर और सिंचाई के प्रश्न पर समुचित और पूर्ण ध्यान दिया जाता

था। उसके प्रबन्ध में लगे रहना वे अपना पवित्र कर्त्तव्य समझते थे और न केवल राजधानी के निकट ही अपनी ही भलाई या फायदे को सोचा जाता था और नहर-निर्माण होता था, बल्कि साम्राज्य के अन्य प्रांतों में भी उसका समुचित प्रबंध किया जाता था और इस प्रकार से सुविस्तृत बृहत् साम्राज्य का परिपालन तथा उसकी रक्षा और सहायता करना मौर्य्य सम्राट् देश के प्रति अपना कर्त्तव्य समझते थे और उसका ऋण चुकाते थे।

इन उपर्युक्त परिस्थितियों को देखने से मौर्य सम्राटों द्वारा आर्थिक दशा का सुधार करने के लिये पदाधिकारी नियुक्त करने तथा अन्य उपायों द्वारा उसमें सहायता करने की चेष्टा और प्रयत्न का प्रमाण मिल जाता है। इनके द्वारा हमें इतना ही ज्ञात नहीं होता कि देश के वाणिज्य व्यवसाय की, उसके उद्योग-धन्धों की संतोषप्रद उन्नति हुई थी, बल्कि यह भी पता लगता है कि उस काल में विदेशी व्यापार भी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच चुका था और उसे राज्य द्वारा उत्साह और सहायता भी मिल सकती थी।

यहाँ इतना और बतला देना असंगत न होगा कि व्यापार में राजकर्मचारियों की दृष्टि से माल बचाकर राज्य को शुल्क न देने की चेष्टा करके माल बेचनेवालों को रोकने के लिये और उनकी देखरेख करने के लिये गुप्तचर नियुक्त रहा करते थे। उन्हें इस बात का विशेष शिक्षण और आदेश दिया जाता था कि विदेशी व्यापारिक वस्तुओं की देखरेख करें, उनकी अच्छाई

और बुराई की जाँच करे और उनके द्वारा जिन प्रकार के करों का प्राप्त करना न्यायसंगत समझा जाता था, उनकी जाँच करें कि इन्होंने वह कर चुकाया अथवा नहीं* ।

इसके सिवा आर्थिक स्थिति की उन्नति के अन्य बहुत से चिह्न भी दृष्टिगोचर होते हैं । उदाहरणतः राज्याधिकार में ही लवण-निर्माण तथा सुरा बनाने का काम रक्खा गया था । नमक तैयार करनेवालों को प्रमाण-पत्र भी दिए जाते थे और उनसे, चाहे द्रव्य के रूप में अथवा माल के भाग के ही रूप में, कुछ न कुछ कर लिया जाता था । उनका संग्रह करना भी लवण-विभाग के अध्यक्ष का कार्य था । नमक का व्यापार राज्याधीन था, इसलिये नमक का आयात नहीं होता था; और यदि कोई आयात करता तो उसे एक प्रकार का शुल्क देना पड़ता था जो इस विचार से लिया जाता था कि उसका आयात करने से राजकीय व्यापार की जो हानि हुई है, उसकी पूर्त्ति कर ली जाय । इसी प्रकार सुरा प्रस्तुत करने का भी प्रबंध सुरा-विभाग के अधीन था और प्रत्यक्षतः राज्याधीन था । सुराध्यक्ष कुछ ऐसे आदमियों को नियुक्त करता था जो सुरा प्रस्तुत करने की विद्या में चतुर होते थे और उसके गुणी होते थे । ऐसे मनुष्यों द्वारा सुरा बनवाई जाती थी और उसका विक्रय राज्य की ओर से होता था ।

* देखो श्रीयुक्त जे० एन० समद्दार बी० ए० कृत Economic Conditions in Ancient India.

द्रगुप्त के शासन में एक बड़ा ही सुन्दर प्रबंध जन-गणना (मर्दुम शुमारी) का था, जिसकी आर्थिक दृष्टि से बड़ी महत्ता थी। इस प्रबंध की यह विशेषता थी कि यह स्थिर विभाग के अधीन था; इसके कर्मचारी और अध्यक्ष स्थायी होते थे। जैसा कि कुमार नरेंद्रनाथ ला ने अपनी स्टडीज इन एनशेण्ट हिंदू पालिटी (Studies in Ancient Hindu Polity) में लिखा है—चंद्रगुप्त के जन-गणना विभाग के नियमों में यह विशेषता थी कि वह स्थायी पदाधिकारियों और स्थायी कर्म्मचारियों द्वारा संचालित होता था। यह केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि राजनीतिक दृष्टि से भी महत्व की बात थी। जैसा कि मेगास्थनीज ने लिखा है, इस विभाग के अध्यक्ष इस बात का अनुसंधान कर सकते थे कि किसका जन्म किस समय हुआ और उसकी मृत्यु कैसे हुई। यह केवल इस दृष्टि से नहीं किया जाता था कि उससे कर लगाने में सुबिधा हो, बल्कि यह भी उद्देश्य था कि देश में सभी के, चाहे वह बड़ा हो अथवा छोटा, जन्म और मृत्यु का पता रहे। इस प्रकार की जन-गणना से केवल देश की आबादी का ही पता नहीं लगता था, बल्कि यह भी प्रत्यक्ष हो जाता था कि देश में कितने कृषक, कितने गोपालक, कितने व्यापारी, कितने चतुर शिल्पी और कितने मजदूर हैं, इत्यादि। और इन प्रत्येक से किस प्रकार, किस मात्रा में, उनके कार्य के अनुसार कौन कौन से कर लिए जा सकते हैं, इसका पूरा पता लग जाता था।

नगर में जो स्थानीय स्वशासन के छः विभाग थे—जिनका पूर्व के प्रकरण में वर्णन किया गया है—उनमें एक ऐसा विभाग भी था जिसका काम था कि वह नियमानुसार लिखा करे कि प्रति दिन कितना जन्म और कितनी मृत्यु होती है*, जिससे उससे राज्य को भी जानकारी रहे कि देश की आबादी घट रही है या बढ़ रही है; तथा करों के लगाने में भी सुविधा रहे और आय का अनुमान रक्खा जा सके।

इस प्रबंध को देखकर प्राचीन भारतीयों के अर्थशास्त्र के ज्ञान और उनकी विकसित योग्यता पर आश्चर्य होता है। आज का संसार भी इस विषय में उतना समुचित प्रबंध करने में सफल नहीं हुआ है, जितना होना चाहिए। पर आज के दो ढाई हजार वर्ष के पूर्व एक भारतीय सम्राट् का प्रबंध वर्त्तमान प्रबंध से किसी प्रकार कम नहीं था। बल्कि उसकी शासनयोग्यता का, उसके प्रबंध की पूर्णता का, उसकी चातुरी का और देश में अर्थ-विषयक ज्ञान का पूरा विकास था, इसमें संदेह नहीं।

इसके अनंतर मौर्य्य काल में भारतीय समाज में एक और भी विशेषता थी। वह यह कि उस समय में देश के जीवन के सभी अंगों (राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक) में

---

* यह स्पष्ट नहीं कि साम्राज्य भर के मनुष्यों की जन्म-मृत्यु का रजिस्टर रखा जाता था अथवा राजधानी आदि मुख्य स्थानों के निवासियों ही की। सं०

संघटित शक्ति वर्तमान थी। इस स्थान पर हम केवल आर्थिक संघटन पर ही संक्षेप में प्रकाश डालना चाहते हैं। जैसा कि पहले एक स्थान पर कहा जा चुका है, वाणिज्य-व्यवसाय और व्यापार करनेवाले लोग भिन्न भिन्न वस्तुओं का व्यापार करते थे। शिल्पी, उद्योग धंधा करनेवाले, खेती करनेवाले हर प्रकार के कारबारी देश में मौजूद थे। इन भिन्न भिन्न रूपों से जीविका निर्वाह करनेवालों का भिन्न भिन्न संघटन था जिसे वे 'श्रेणी' कहते थे। जातक काल के वर्णन में इनके विषय में विशेष रूप से लिखा जा चुका है। इसी प्रकार मौर्य्य काल में भी भिन्न भिन्न देशवालों की भिन्न भिन्न श्रेणियाँ संघटित थीं और उनके श्रेणीमुख्य होते थे। इनको राजा की ओर से कुछ विशेष अधिकार और विशेष सुविधाएँ प्राप्त होती थीं। देश में इनकी बात मानी जाती थी—ये प्रतिष्ठित समाज के एक मुख्य अंग थे, राजा की नीति आदि में इनका कुछ हाथ होता था। प्रथम प्रकरण में जिन पौर जानपदों का वर्णन किया गया है, संभव है, उनमें भी इन श्रेणियों के प्रतिनिधि विद्यमान रहा करते हों।

इनके मुख्यों के हाथ में कुछ अधिकार थे जिनके द्वारा वे अपनी श्रेणियों के झगड़े निपटाते और दोषी को दंड भी देते थे। श्रेणी के सदस्यों का सबसे बड़ा अपराध यह समझा जाता था कि वे श्रेणी के सर्वमान्य नियमों का उल्लंघन करें और श्रेणी के साथ विश्वासघात करें। कौटिल्य के अर्थशास्त्र

से पता चलता है कि श्रेणियों के पास बैंकों की तरह रुपए भी जमा किया जाता था; और ये श्रेणियाँ वे रुपए तीन मंत्रियों के पास जमा किया करती थीं जिनमें वे श्रेणियाँ अपना विश्वास रखती थीं; और अपनी आवश्यकता के समय वे रुपए पुनः लौटाए जा सकते थे। इन श्रेणियों के पास प्रचुर मात्रा में धन रहता था और वे उसे उधार भी दिया करती थीं*। इसका उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इस प्रकार से किया है कि कुछ स्वार्थी और लोभी राजाओं की यह नीति थी कि अगर उन राजाओं को कभी धन की आवश्यकता पड़ती तो वे श्रेणियों से धन ऋण लेने के लिये गुप्तचर नियत करते; और पुनः उन्हें यह आदेश करते कि रुपए हजम कर जाओ और घोषित करो कि हमारे यहाँ डाका पड़ गया। इस प्रकार के कुछ बेईमान राजाओं की नीति का वर्णन कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में किया है। पर इससे हमको इतना अवश्य ज्ञात हो जाता है कि उस समय में ये श्रेणियाँ आर्थिक संसार में बैंकों का भी कार्य करती थीं।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि देश में धन-वृद्धि और संपत्ति संपादन के लिये, व्यापार-व्यवसाय के प्रबंध के लिये, समुचित ध्यान दिया जाता था और पूर्ण प्रबंध किया जाता था। इसी व्यवसाय और व्यापार की उन्नति से देश की आर्थिक उन्नति समझी जाती थी; और इसी कारण

*देखो, श्री मजूमदार महाशय कृत Corporate Life in Ancient India; Chapter I.

उस पर पूरा ध्यान दिया जाता था। इसी लिये, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, वाणिज्य व्यवसाय विभाग का अध्यक्ष होता था जो राज्य द्वारा नियत किया जाता था और जिसका कार्य्य व्यापार को उत्साहित करना, विदेशी व्यापार करनेवालों पर विशेष ध्यान रखना, हर प्रकार से व्यापारियों की रक्षा करना और देश के व्यवसाय में हर संभव उपाय द्वारा सहायता करना था। राजा के द्वारा भी व्यापार की उन्नति के लिये सड़कों, जलमार्गों आदि के निर्माण पर और उसकी रक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। विदेशी व्यापारी देश में व्यापार करने आवें, इसके लिये उन पर राज्य द्वारा अधिक ध्यान दिया जाता था, उनके जान माल की रक्षा की जिम्मेदारी राज्य पर थी; और इसी कारण सार्वजनिक-शासन के अंतर्गत चंद्रगुप्त के शासन में एक वह भी विभाग था जो विदेशियों के जान-माल की रक्षा और उनके रहने का प्रबंध करता, उनकी आवश्यकताओं की यथाशक्ति पूर्ति करता, देश छोड़कर घर जाने के समय उनकी सहायता करता; और यदि वे व्यापारी मर जाते तो उनके अंतिम संस्कार और उनकी संपत्ति का समुचित प्रबंध करता था। इन बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि देश में व्यापार हो, इसका मौर्य्य सम्राट् पूर्ण उद्योग और उस व्यापार की पूर्ण सहायता किया करते थे जिसकी वजह से देश में व्यापार-व्यवसाय वर्त्तमान था और देश में धन तथा संपत्ति भरी पड़ी थी।

श्रीयुक्त जे० एन० समद्दार ने अपने "प्राचीन भारत की आर्थिक स्थिति" पर दिए हुए व्याख्यानों* में इस बात पर प्रकाश डाला है कि मौर्य्य साम्राज्य में कम से कम निम्न-लिखित स्थानों से व्यापारिक संबंध अवश्य ही स्थापित था--पांड्य सिंहल, केरल, फारस, हिमालय की सीमा पर के देश, विदर्भ, कोशल, काशी, कामरूप, वंग, मथुरा, कोंकण, कलिंग, कोशांबी, महिमा और भारत के बाहर, मिस्र, सीरिया, इपिरस आदि देशों तक भारतीय व्यापार का सिक्का—उसका प्रभाव जमा हुआ था।

पूर्व में ही इस पर प्रकाश डाला जा चुका है कि विदेशी व्यापार के लिये नौका-निर्माण और नौकानयन का व्यवसाय अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। नौका-निर्माण करने-वाले अथवा अन्य उद्योग-धंधे करनेवाले शिल्पियों आदि की रक्षा का राजा विशेष प्रबंध करता था, उनकी रक्षा का विशेष ध्यान रखता था, उनकी सहायता करता था; वे पुरस्कृत किए जाते थे, उत्साहित किए जाते थे, वे राजा की एक विशेष संपत्ति समझे जाते थे; उनकी क्षति करनेवाला अथवा उनके अंग भंग कर देनेवाला बड़े ही कठोर दंडों से दंडित होता था। इस प्रकार देश में कारीगरी, उद्योग-धंधों आदि की सहायता की जाती थी और उनकी उन्नति की यथाशक्ति चेष्टा की

---

*Lectures on Economic Conditions in Ancient India by J. N. Samaddar B.A.

जाता था जिसमें देश में इनके द्वारा संपत्ति आवे और आर्थिक उन्नति हो।

मौर्य्यकालीन आर्थिक स्थिति की विवेचना संक्षेप में हो गई। अब हमें इस विषय पर भी प्रकाश डालना आवश्यक जान पड़ता है कि तत्कालीन भारत में राज्य किन किन नियमों से कर संग्रह करता था, उसकी आय किस प्रकार होती थी, उन करों का प्रक्षेपण किस प्रकार होता था और भूमि के संबंध में राज्य की क्या नीति थी।

भारत में बहुत ही प्राचीन काल से कर के विषय में कुछ सिद्धांत प्रचलित थे। आज वर्तमान सभ्य संसार में भी राज्य और प्रजा का संघर्ष इस विषय में हो जाया करता है कि राज्य की अमुक कर-नीति ठीक है, अमुक ठीक नहीं है और यह प्रजा के पीड़न का उपाय है, अतएव निंदनीय है इत्यादि। परंतु प्राचीन भारत के नेताओं ने इस विवाद का निराकरण बहुत पहले ही कर दिया है और धर्मशास्त्रों में कर की नीति और कर की दर निश्चित कर दी है जिससे प्रजा और राजा के संघर्ष का अवसर ही न रह गया। कर राजा की इच्छा पर निर्भर नहीं था। वह शास्त्र-विहित, शास्त्रानुमोदित कर से एक पैसा भी अधिक नहीं ले सकता था*। इस प्रकार से

---

* शास्त्र के नियमों का पूर्णरूपेण पालन करनेवाले विरले ही राजा होंगे। यों तो इस्लाम में भी "शरीयत" ने नियम निश्चित कर दिए थे, परन्तु उनके पालन करनेवाले कितने बादशाह हुए हैं! सं०

कर के व्यवस्थित नियम ऐसे थे जो सजीव थे—जो देश के सामाजिक जीवन में अपना प्रभाव रखते थे और जिन पर देश के प्रचलित नियमों का प्रभाव था।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक ग्रंथों ने इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है कि राजा को कर लेने का क्या अधिकार है, और वह अधिकार क्यों है। भारतीय राजनीति ने इन करों का उल्लेख राजा के वेतन में किया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में अपने भी पूर्व के कर-सिद्धान्तों का वर्णन किया है। उन्होंने नारद के मत का उल्लेख किया है कि "राजा को दिया जानेवाला उत्पत्ति का षड्भाग उसके प्रजा-रक्षण करने का पुरस्कार है"। महाभारतकार ने तो प्रत्यक्षरूपेण कर को राजा के वेतन का रूप दिया है। यथा—

बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम्।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम्॥

अर्थात् उत्पत्ति का षड्भाग (बलि), आयात-निर्यात कर (शुल्क), अपराधियों द्वारा प्राप्त जुरमाना (अर्थ-दंड) आदि जो कुछ भी आय शास्त्रानुमोदित होती है, वह तुम्हारा वेतन है जिससे धन का आगमन होगा*।

रक्षा करने के हेतु कर राजा का वेतन है—यह सिद्धांत भारतीय राजनीति का एक व्यवस्थित नियम और मूल सिद्धांत

---

* प्रजा के दिए हुए कर को "राजा के वेतन" माननेवाला सिद्धांत चिन्त्य और संभवतः आपत्तिजनक है। सं०

था। इसके विरुद्ध चलने की राजा में शक्ति नहीं थी। वह समझता था कि जिस दिन मैं अपनी प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ होऊँगी, उस दिन प्रजा को यह अधिकार है कि वह कर देना बन्द कर दे। समाज पर इस सिद्धांत का ऐसा व्यापक प्रभाव था कि कुटिलनीति-विशारद कौटिल्य ने भी राजा को यह आदेश किया है कि यदि प्रजा की कोई क्षति हो जाय—चोरी हो जाय और राजा उसका सामान, उसका माल, पुनः उसे न लौटा सके तो उसकी क्षति की पूर्त्ति अपने घर से करे। यदि वह ऐसा न करेगा तो इसका यह तात्पर्य्य होगा कि उसने अपने पवित्र कर्त्तव्य का पालन नहीं किया और उस व्यापक नियम का, जिस पर समाज का पूरा प्रभाव है, बुरा असर पड़ेगा; और संभव है कि प्रजा देश छोड़कर शत्रु के राज्य में चली जाय। अर्थात् जो आय कर के रूप में राजा को प्राप्त होती है, वह उसे रक्षा करने के लिये दिया जानेवाला पारितोषिक है अथवा उसका वेतन है। यदि वह रक्षा करने के लिये कर्तव्य में असावधानी करता है, और प्रजा को उसकी असावधानी से क्षति पहुँचती है अथवा कष्ट होता है, तो वह प्रजा की क्षति-पूर्ति करने के रूप में अपना दंड भोगे। इससे यह भी प्रत्यक्ष हो जाता है कि कर का प्रक्षेपण भारत के प्राचीन आर्य्य ऋषियों के विचार से इसी सिद्धांत द्वारा प्रतिपादित होता था कि वह समाज के, देश के, प्रजा के, दास (राजा) का उसके रक्षा करने के अपने कर्तव्य-पालन का वेतन है। वह शासा-

नुमोदित वेतन भी व्यवस्थित नियमों द्वारा संग्रह करके राजा को प्रदान किया जाता था और वही उसकी आय होती थी।

अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने यह आदेश किया है कि यदि राजाओं को कभी धन की आवश्यकता पड़े और उसकी पूर्ति नियमित तथा विहित आय से न हो तो वह प्रजा से कर की भिक्षा माँगे। इस भिक्षा को "प्रणय" कहा जाता था।

इसके साथ ही साथ कौटिल्य ने कुछ कुटिल और असाधारण उपायों का भी वर्णन किया है जिनके द्वारा राजा लोग आवश्यकता पड़ने पर आय की कमी होने से धन संग्रह करें और राज-कार्य्य चलावें। महामंत्री चाणक्य के धन-संग्रह के उपायों पर आज कुछ पश्चिमीय विद्वान् बुरी तरह से आक्रमण करते हैं। अर्थशास्त्र में उन्होंने मंदिरों द्वारा धन-संग्रह करने का उपाय बतलाया है। इन्हीं बातों को लेकर उस काल की समालोचना करते हुए प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री विंसेंट स्मिथ साहब ने अपने "अशोक" नामक ग्रंथ में लिखा है—

"The people who grumble at modern assessments will find, if they study history, that their ancestors often were much more severely fleeced. Chanakya, without the slightest regard for moral principles, explains the method more than Machiavellian wickedness by which needy kings may replenish their coffers and many instances of the lesson being well learned are on record."

अर्थात् "जो लोग वर्तमान कर-प्रक्षेपण और धन-संग्रह के विरुद्ध बोलते हैं, उन्हें चाहिए कि अपने पूर्व पितरों की कृति देखें जो कि आज से कहीं अधिक भयंकरता से परिपूर्ण थी। चाणक्य ने धर्मनीति और सद्भावों को एकदम तिलांजलि देकर दुष्टता से भरे हुए ऐसे उपायों की सूचना दी है जिनके द्वारा लोभी अथवा आवश्यकता में पड़े हुए राजा अपना काम चला सकें और इसके बहुत से प्रमाण आज मिलते हैं।" स्मिथ साहब का यह आक्षेप बिलकुल निराधार तथा भ्रम-पूर्ण है। उनके इस कथन से यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि भारतीय सभ्यता की गूढ़ता और उसके रहस्यमय चित्र का उन्हें ठीक ज्ञान नहीं था। मालूम होता है कि वे भ्रम में पड़े हुए थे। इन बातों का अर्थ जिस रूप में उन्होंने लिया है, वह इस बात का द्योतक है कि भारतीय सभ्यता के समुद्र के तीर का भी ज्ञान उन्होंने नहीं प्राप्त किया था; और उन सब बातों का अर्थ—जिससे आर्य्य सभ्यता की महत्ता प्रगट होती है—उलटे रूप में लगाया है और अपनी कल्पना का ही भ्रमपूर्ण रंग उसके ऊपर चढ़ाया है। विधि के विधान से आज बहुत से भारतीय विद्वानों ने इस बात का अनुसंधान किया है, और उन अपरिचित विदेशी विद्वानों के फैलाए हुए भ्रमपूर्ण अंधकार को संसार से हटाने की चेष्टा की है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य के कुटिल उपायों द्वारा धन-संग्रह करने का यह तात्पर्य्य था कि राजा के हाथों में अनियंत्रित—अनियमित—कर-प्रक्षेपण का अधिकार नहीं

था। वर्तमान सभ्य संसार में भी आज जो बात इस अभागे देश को प्राप्त नहीं, वही आज के दो हजार वर्ष पूर्व आर्य्य सभ्यता ने संसार को दी थी। आज भारत में कर-प्रक्षेपण में भारतीय जनता का कोई हाथ नहीं। किंतु उस समय यदि आवश्यकता पड़ती तो राजा प्रजा से अनुनय करता, विनय करता, अधिक धन की भिक्षा माँगता; और यदि प्रजा विशेष कर देने पर राजी हो जाती तो वह "प्रणय" कहलाता जिसका तात्पर्य्य ही यह है कि प्रेम से दी हुई "नजर"*। यदि प्रजा कर देने पर राजी न होती और राजा को धन की आवश्यकता होती तो उन कुटिल उपायों द्वारा, छिपे छिपे, प्रजा की आँखों से बचाकर, धन-संग्रह किया जाता और आवश्यक कार्य्य का संचालन होता। इससे यह बात सिद्ध होती है कि राजा को वही आय प्रजा द्वारा होती थी और वह उतना ही ले सकता था जितना कि शास्त्र द्वारा विहित था, निश्चित था। उससे अधिक एक पैसा भी राजा नहीं ले सकता था। प्रजा की इच्छा के विरुद्ध, उसकी सहमति के बिना, राजा को एक पैसे की भी आय नहीं हो सकती थी।

* "नजर" भारतवर्ष में पुराने जमाने से थी और अब भी है। उसके दुरुपयोग के अगणित दृष्टांत हैं। लेखक महोदय को उचित था कि सिद्ध करते कि मौर्य काल में वह प्रथा दोष-रहित और सर्वग्राह्य थी। अर्थशास्त्र से स्पष्ट है कि कर लेने में कभी कभी छल, दम्भ और झूठ का भी प्रयोग होता था। देखो अधि० ५, अध्याय २। सं०

यह आज के सभ्य संसार में प्रचलित—"बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं" (No taxation without representation) वाले सिद्धांत से मिलता जुलता है। अर्थात् यदि ऐसा कोई कार्य्य राजा करना चाहे जो प्रजा के मत के विरुद्ध हो और उसके लिये धन की आवश्यकता पड़े तो राजा को एक पैसा भी नहीं मिल सकता था।

उपर्युक्त बातों से सिद्ध हो जाता है कि प्रजा की सेवा करने के कारण राजा को कर के रूप में पारितोषिक अथवा वेतन प्राप्त होता था, न कि शासन, प्रभुत्व और जबरदस्ती के बल पर। यदि राजा प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता, उसके जान और माल की हिफ़ाजत नहीं कर सकता तो उसे अधिकार नहीं है कि वह राज-पद पर स्थित रहे और प्रजा से कर लेने का अधिकारी हो। कुछ लोगों का यह आक्षेप है कि शास्त्रविहित और निश्चित कर की दुहाई दी जाती है; परन्तु वही शास्त्रविहित कर इतना अधिक होता था कि उससे प्रजा पीड़ित होती और कष्ट पाती थी। परन्तु प्राचीन आर्य्य सभ्यता पूर्ण थी, उसके ऋषियों ने सभी विषयों के सभी अंगों पर ध्यान दिया है। उन्होंने कर-संग्रह और कर निपातन दोनों पर अपना मत प्रकट किया है। महाभारतकार कर-संग्रह के विषय में लिखते हैं—

"मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम्।"

अर्थात् "जिस प्रकार भ्रमर पुष्पों द्वारा रस संग्रह करता है, उसी प्रकार राष्ट्र को 'दुहना' चाहिए।" इससे सुंदर

विचार—इससे उपयुक्त, उदार और महत्वपूर्ण भाव इस विषय में और क्या प्रगट किया जा सकता है ! आज भी इस बात का विचार रखा जाता है कि जहाँ तक हो सके, "अप्रत्यक्ष कर लगाया जाय जिसमें संग्रह करने के समय प्रजा को प्रत्यक्ष कष्ट न हो। इसी भाव का प्रदर्शन उक्त सिद्धांत में किया गया है; उससे सुंदर और उपयुक्त उपमा अप्रत्यक्ष कर के लिये हो नहीं सकती। इसी भाव के आधार पर कौटिल्य ने अर्थ-शास्त्र में शत्रु-देश में शत्रु-राजा के प्रति अप्रीति प्रचार करने का यह उपाय बताया है कि प्रजा के कान में धीरे धीरे यह बात भरी जाय कि तुम्हारे राजा तुम्हारे ऊपर ऐसा कर लगावेंगे जिससे प्रजापीड़न होगा।

राजा को इस बात का ध्यान रखने का आदेश था कि जिस वस्तु पर कर लगे, उसे देखकर तब कर लगाना चाहिए; क्योंकि कहीं वह वस्तु ही नष्ट हो जाय अथवा कर का भार ही वह न सह सके, तब राजा अपने मूल पर ही कुठाराघात कर बैठेगा। मौर्य्य काल में किन किन वस्तुओं पर कैसा कर लिया जाता था, अर्थशास्त्र के द्वारा इसका भी पता चल जाता है। उससे ज्ञात होता है कि कर लगाने में राजा का ही मुख्य हाथ रहा करता था; उसके लिये शास्त्र वा समाज का कोई बंधन उसके ऊपर नहीं मालूम पड़ता। कौटिल्य ने लिखा है—

राष्ट्रपीडाकरं भाण्डमुच्छिन्द्यादफलं च यत्।
महोपकारमुच्छुल्कं कुर्य्याद्बीजं तु दुर्लभम्॥

अर्थात् 'ऐसी वस्तुओं के आयात को, जो भोग-विलास की सामग्री हों—अथवा जो वस्तुएँ राजा के लिये हानिकारक हों—उन पर कर लगाकर यथाशक्ति अनुत्साहित करना चाहिए।' यही वर्तमान संसार की संरक्षण नीति है। परंतु देश के लाभदायक आयात को उत्साहित करने और आवश्यक समझा जाय तो आयात कर माफ कर देने की नीति के वर्त्तन का भी आदेश कौटिल्य का है। वह उन वस्तुओं को, जिनका आयात-कर माफ कर देना चाहिए, यों गिनाते हैं—''शस्त्र-वर्म-कवच-लौह-रथ-रत्न-धान्य-पशूनामन्यतममनिर्वाह्यम्।'' अर्थात् शस्त्र, वर्म, कवच, रथ, रत्न, अन्न, पशु आदि वस्तुएँ राजा के लाभ की समझी जाती थीं और वे आयात-कर से बरी भी कर दी जा सकती थीं। इन वस्तुओं का निर्यात भी मना था। इस प्रकार सुविधानुकूल, विचार करके, देश के वाणिज्य व्यवसाय की उन्नति पर ध्यान रखते हुए कर लगाए जाते थे।

भूमि पर किसका अधिकार है, इस विषय में विद्वानों में मत-भेद है। पश्चिमीय विद्वान् लोगों में से कुछ महानुभाव ऐसे हैं जो इसी बात के पक्षपाती हैं कि प्राचीन भारत का यह नियम था कि देश की सभी भूमि राजा की होती थी।

विंसेंट स्मिथ महोदय का कथन है, जैसा कि उन्होंने 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया' नामक ग्रंथ में लिखा है,—

"The native law of India has always recognised agricultural land as being Crown property."

अर्थात् "भारतीयों का यह नियम था कि देश की सारी कृषि योग्य भूमि राजा की संपत्ति समझी जाती थी"। आज भारतीय विद्वानों के अनुसन्धान ने यह बात निश्चित कर दी है कि यह सिद्धांत बिलकुल भ्रमपूर्ण तथा निराधार है। जायसवाल महाशय ने अपने 'हिन्दू पालिटी' नामक ग्रंथ के दूसरे भाग में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है; और मीमांसा आदि द्वारा प्रमाण देकर यह सिद्ध कर दिखलाया है कि प्राचीन भारत में भारतीयों के विचार में भूमि पर राजा का उतना ही अधिकार था जितना कि एक द्वारपाल का उसके मालिक के घर पर होता है। अर्थात् राजा को वहीं तक अधिकार था, जहाँ तक दुष्ट-दमन और प्रजा की रक्षा का संबंध था। इससे अधिक उसे कोई अधिकार नहीं था।

जातकों से भी इसी बात का प्रमाण मिलता है कि राजा को केवल न्याय करने का अधिकार था; इससे अधिक वह कुछ नहीं कर सकता था। जातकों में एक कथा भी है कि एक राजा की एक दक्षिणी प्रणयिनी थी। उसने राजा से कहा कि यह सारा राज्य हमें दे दो। राजा ने उत्तर दिया कि राज्य पर मेरा इससे अधिक कुछ भी अधिकार नहीं है कि मैं दुष्टों का दमन करूँ और प्रजा की रक्षा करूँ। राज्य दे देना मेरे अधिकार के बाहर है। यदि तुम मेरा खास महल और उसका खास धन ले लेने से प्रसन्न हो तो ले सकती हो। इन बातों से यह ज्ञात हो जाता है कि प्राचीन काल में यह सिद्धांत नहीं प्रचलित था

कि भूमि राजा की सम्पत्ति है। जायसवालजी अपनी उपर्युक्त पुस्तक में स्मिथ साहब के मत का खंडन करते हुए लिखते हैं—

"It may be the native law of any other land; it is certainly not the native law of India. It is not fair that a popular text book should embody such a prejudiced and unwarrantable view dogmatically asserted, and asserted without taking the slightest notice of competent discussions on the subject."

अर्थात् "भूमि राजा की संपत्ति है, यह सिद्धांत या नियम किसी दूसरे देश का होगा, भारत में यह नियम कभी प्रचलित नहीं था। यह न्याय-संगत नहीं है कि एक प्रसिद्ध पाठ्य पुस्तक में बिना किसी विचार और विवेचना के किसी विषय पर ऐसा भ्रमपूर्ण और निराधार मत प्रकट किया जाय।" विंसेंट स्मिथ साहब ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र के एक श्लोक के अनुवाद के आधार पर यह मत प्रकट किया है। विद्वानों की राय है कि यह अर्थ बिलकुल उलटा लगाया गया है। कौटिल्य का वह श्लोक इस प्रकार है—

राजा भूमेः पतिर्दृष्टः शास्त्रज्ञैरुदकस्य च।
ताभ्यामन्यत्र यद्द्रव्यं तत्र साम्यं कुटुम्बिनाम्॥

इस श्लोक का अर्थ स्मिथ साहब ने इस प्रकार किया है—
"शास्त्रज्ञ लोग इस बात पर सहमत हैं कि राजा 'जल और

स्थल दोनों का सर्वाधिकारी है। "इन दो वस्तुओं को छोड़कर अन्य चीजों पर अन्य लोगों का अधिकार हो सकता है* ।" इस श्लोक का यह अर्थ कुछ विद्वानों के मत से संपूर्णतः असत्य और अशुद्ध है। जायसवाल महोदय के मत में, तथा जैसा कि देखने में भी ज्ञात होता है, इसका प्रत्यक्ष अर्थ यह है कि "शास्त्रज्ञों के मत से राजा जल और स्थल दोनों का रक्षक (पति) है। इन दो को छोड़कर अन्य संपत्ति पर उसके कुटुम्बियों का सब अधिकार हो सकता है"। अगर यह अर्थ शुद्ध मान लिया जाय तो यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जायगा कि राजा का भूमि पर अधिकार नहीं था। यह अर्थ इस कारण से सत्य और शुद्ध ज्ञात होता है कि भारतीय व्यवस्थापक नियमों (Constitutional Law) के वर्णन से यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है कि भूमि राजा की संपत्ति नहीं थी। मीमांसा के

---

* उपर्युक्त अर्थ स्मिथ की सनगढ़न्त नहीं, उन्होंने संभवतः शाम शास्त्री के अर्थ को स्वीकार कर लिया। देखो शामशास्त्री कृत अर्थ-शास्त्र का अनुवाद पृ० १४०, नोट ९। यह याद रखना चाहिए कि उक्त श्लोक अर्थशास्त्र के मूल में नहीं वरन् टीकाकार (भट्टस्वामी) ने कहीं से टिप्पणी रूप में उद्धृत किया है। स्मिथ के मत की पुष्टि मेगास्थिनीज के कथन से होती है। हॉप्किन्स और टामस साहब भी उसका अनुमोदन करते हैं। भूमि पर राजा के अधिकार एवं स्वामित्व का विषय बड़ा विवादास्पद है। युरोपीय ही नहीं भारतीय विद्वानों में भी इस विषय में बड़ा मत-भेद है। जायसवाल महोदय का मत यद्यपि अभी तक विवादरहित नहीं माना जाता, तथापि विचारणीय अवश्य है। सं०

द्वारा महाभारत तथा मन्वादिकों के मत में कहीं इस बात का प्रमाण नहीं मिलता, बल्कि प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है कि भारतीय अर्थशास्त्र के ज्ञाताओं ने भूमि को राजा की संपत्ति और उस पर उसके अनन्याधिकार के दावे का फैसला नहीं दिया है। ऐसी अवस्था में कौटिल्य ऐसा राजनीति-शास्त्र-पारंगत भला इतनी बड़ी भूल कैसे करता कि इतनी बड़ी समस्या पर प्राचीन संस्कारों द्वारा संस्कृत समाज के मत के विरुद्ध नए सिद्धांत का निरूपण करता! अत: मेरे विचार में जायसवाल महोदय का ही अर्थ उचित जान पड़ता है; और यह सिद्धांत उपयुक्त ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में भारतीय भूमि पर भारतीय नरेशों का एकाधिकार नहीं था और वे केवल उसके रक्षक मात्र थे; तथा उसकी रक्षा करने के कारण उसकी उत्पत्ति का षड्भाग वेतन के रूप में पाते थे। ये ही प्राचीन भारत के अर्थशास्त्रज्ञों के आर्थिक प्रश्नों पर मुख्य सिद्धांत थे। प्राचीन काल में राजा की आय का मुख्य विभाग राजकोष समझा जाता था। वर्त्तमान समय में आवश्यकता आ पड़ने पर राजा कर्ज लेते हैं और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। राजकोष का रखना अर्थशास्त्रज्ञों की दृष्टि में अयुक्त है। परंतु प्राचीन समय में राज्य के सभी काम राजकोष पर ही निर्भर रहा करते थे। इसी लिये राजा कर लगाता था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में एक स्थान पर मौर्य साम्राज्य की आय के द्वार निम्न रूप से लिखे हैं—

(१) राजधानी द्वारा आय—यह आय राजधानी में आई हुई वस्तुओं पर के लगे हुए करों और व्यापारियों आदि पर लगे हुए करों को मिलाकर होती थी। सूती कपड़े, तेल, नमक, मदिरा, आदि पर, वेश्याओं पर, व्यापारियों और मन्दिरों पर के कर या शुल्क जो नगर के फाटक पर वसूल किए जाते थे, जूए आदि के लिये जो कर लगते थे; वे सभी सम्मिलित रूप से नगर की आय होते थे।

(२) ग्रामों और प्रान्तों की आय—खास राजा की भी भूमि होती थी जिसमें खेती की जाती थी; अतः राजा के खास खेतों की पैदावार, कृषि का षड्भाग, भूमिकर,—जो धन के रूप में लिया जाता था—घाटों की उतराई अथवा सड़कों पर चलने आदि के जो महसूल होते थे, वे सब मिलकर ग्रामों और प्रांतों द्वारा प्राप्त आय समझे जाते थे।

(३) खानों द्वारा आय—खानों का वर्णन पहले किया जा चुका है। खानें राज्य की संपत्ति समझी जाती थीं। जो खानें राज्य की होती थीं, उनकी तो सभी उत्पत्ति राजकोष में चली जाती थी; पर जो खानें राज्य की नहीं होती थीं, उनकी उपज का कुछ भाग राजा लिया करता था। इस प्रकार खानों द्वारा राज्य को काफी आमदनी हो जाती थी।

(४) अर्थशास्त्र के द्वारा पता चलता है कि सरकारी वाटिकाएँ और बाग भी हुआ करते थे। इन वाटिकाओं

द्वारा, जिनमें फल-फूल, साग-भाजी इत्यादि सभी शामिल थे. राज्य को अच्छी आमदनी हो जाया करती थी।

(५) जंगलों द्वारा आय—जंगलों का भी वर्णन पहले हो चुका है। जंगल का एक विभाग ही अलग था। उसी विभाग का यह भी कार्य था कि वह आखेट इत्यादि खेलने के लिये, हाथी वगैरह पकड़ने के लिये, जंगल किराए पर दिया करे। जंगलों की ओषधियाँ, उसके वृक्ष, उसकी लकड़ी, उसमें प्राप्त जानवरों के चमड़े इत्यादि सभी बिक जाया करते थे। इसके द्वारा भी राज्य को खासी आय हो जाया करती थी और वही जंगल की आय कहलाती थी।

(६) चरागाह तथा जानवरों द्वारा आय—भारतवर्ष में बहुत ही प्राचीन काल से जानवरों और चौपायों का पालन एक प्रसिद्ध और मुख्य व्यवसाय रहा है। इन्हीं चौपायों के लिये चरागाह इत्यादि राज्य की ओर से छोड़े जाते थे जो किराए पर दिए जाते थे। इनकी भी एक आय थी जो राजकोष में जाती थी।

(७) वणिक्पथों द्वारा आय—वणिक्पथ का तो यहाँ अर्थ है कि जिस मार्ग से व्यापार आदि हो। कदाचित् इसमें जलमार्ग भी सम्मिलित समझा जाता रहा हो। जल और स्थल दोनों मार्गों से व्यापार करनेवाले व्यापारियों से जो कर वसूल किया जाता था और जिसके द्वारा राज्य को भारी आय होती थी, वह वणिक्पथों द्वारा आय समझी जाती थी।

(८) सिंचाई के लिये भी कुछ महसूल लगता था। इसका भी वर्णन पहले किया जा चुका है। इससे भी राज्य की आय होती थी।

नशे की चीज़ों पर भी कर लगते थे और उसके प्रमाण-पत्र (Licenses) भी बेचे जाते थे। विदेशी शराब पर विशेष रूप से कर लगता था। इनसे भी राज्य को आय होती थी। यह वर्त्तमान आबकारी विभाग के द्वारा प्राप्त करों की तरह है।

बिक्री की वस्तुएँ एक निर्दिष्ट स्थान पर लाई जाती थीं और उन पर मोहर हुआ करती थी। यह मोहर सिंदूर के लाल रंग की होती थी; और मोहर लगाने के बाद कर वसूल किया जाता था।

विदेशी व्यापार तो वर्तमान था ही; अतः विदेशी वस्तुओं के ऊपर जो कर का निपातन होता था, उससे भी आय होती थी। यह कर एक ही प्रकार का नहीं था। कहा जाता है कि बाहर से आनेवाली वस्तुओं पर सात प्रकार के भिन्न भिन्न कर वसूल किए जाते थे।

इस प्रकरण का अंत करने के पहले हम कह देना चाहते हैं कि भारत की आर्य सभ्यता बड़ी प्राचीन है। जिस सभ्यता की दशा मौर्य काल में (जो आज से बाईस या तेईस सौ वर्ष पूर्व का समय है) ही इस उन्नत अवस्था को पहुँच गई थी, जिसे देखकर ज्ञात होता है कि उसका पूर्ण विकास हो चुका था, फिर उसका आरंभ उस काल के भी कितने वर्षों पूर्व हुआ

होगा, इसीका अनुमान विवेकशील पाठकगण स्वयं ही कर सकते हैं।

हमने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि भारत की तत्कालीन आर्थिक स्थिति अपनी उन्नतावस्था में वर्तमान थी। देश में वाणिज्य-व्यवसाय का पूर्ण अस्तित्व था। कृषि होती थी; कारबार और उद्योग-धंधे होते थे। देश की आर्थिक स्थिति की उन्नति करने के लिये अधिक से अधिक ज्ञान वर्तमान था जिसका प्रमाण उस समय के विदेशी व्यापार और राज्य द्वारा उसकी व्यवस्थित सहायता से बढ़कर और क्या हो सकता है!

स्थल और जल दोनों मार्ग विद्यमान थे। स्थल मार्गों का अधिक ध्यान रखा जाता था। सड़कों की सुविधा थी; उनका निर्माण होता था। जल मार्गों में भी आवागमन होता था तथा उसके लिये नौका-निर्माण और नौका-नयन की विद्या का भारतीयों को पूर्ण ज्ञान था।

कृषि भी देश में होती थी। उसके लिये किसानों की सुविधा के लिये कृत्रिम सरिताओं तथा नहरों के भी निर्माण का काफी प्रमाण मिलता है। सिंचाई का विशेष प्रबंध था। मौर्य सम्राट् उन पर अधिक ध्यान दिया करते थे। कारीगरों आदि की रक्षा का पूरा प्रबंध था। राज्य के विशेष अनुग्रह की छत्र-छाया में वे अपना जीवन पूर्ण रक्षित अवस्था में निर्वाह करते थे।

इस प्रकार देश की आर्थिक अवस्था और उसकी स्थिति, जिस पर समाज के सुख की नींव रखी जाती है, उन्नत

अवस्था में थी। हमारा देश सुखी था, उसके बच्चे भरपेट भोजन पाते थे। हम आज की अपेक्षा समृद्ध थे, हमारे देश के १६ करोड़ बच्चे अन्न के लिये नहीं तरसते थे। हम वस्त्र के लिये दूसरों का मुँह नहीं ताकते थे। हमारे वाणिज्य-व्यवसाय उन्नति पर जा रहे थे; वे पतन और नाश की तरफ नहीं बढ़े थे। राजाओं के द्वारा हमारी इच्छा के विरुद्ध कर नहीं लादा जाता था। राजकोष की आय को भरा पूरा रखना राजा का कार्य था, पर वह प्रजा का गला घोंटकर उसे विपत्ति में डालकर नहीं किया जाता था।

इन कारणों से हम सुखी थे, समृद्ध थे, उस काल के अनुसार धनी थे, सभ्य थे और समुन्नत थे। प्राचीन आर्य सभ्यता अपनी उन्नति के पथ की ओर शीघ्रता से बढ़ती चली जा रही थी।

चौथा अध्याय

मौर्य काल में भारतीय शिल्प-कला

सभ्य संसार आज यह बात मानता है कि किसी देश अथवा समाज की सभ्यता के विकास में—उसकी उन्नति में—उस सभ्यता के प्रकाश से प्रकाशित शिल्प का भी एक मुख्य अंग है। शिल्प-कला एक उपाय है, जिसके द्वारा भारतीयों ने ही नहीं, संसार की सभी सभ्यताओं ने अपना अंतरंग रूप प्रकट किया है। शिल्प-कला एक ऐसी वस्तु है जिसके द्वारा हम किसी समाज के किसी समय में प्रदर्शित सभ्यता के रूप का पूर्ण विचार कर सकते हैं। किसी देश में किस समय कैसी सभ्यता का प्रभाव था, उस देश के मानव समाज के मस्तिष्क की उन्नति किस ओर हुई थी, उसके विचारों का संचालन किस तरफ को हुआ था, आदि बातों का पता हम जहाँ तत्कालीन साहित्य अथवा अन्य प्रकार से जानते हैं, वहीं हमें उन बातों का उत्तर तत्कालीन प्रदर्शित कला में भी सूक्ष्मरूपेण मिल जाता है।

भारत की प्राचीन आर्य सभ्यता की उच्चता और महत्ता अपूर्ण ही रह जायगी, यदि हम इस विषय को दृष्टि से अंतर्हित कर देंगे। इसलिये संक्षेप में इस विषय पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

प्राचीन भारतीय सभ्यता की प्राचीन शिल्प-कला का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। इस बात से हमारा मतलब यह है कि हमारी सभ्यता तो अति प्राचीन है जिसका आरंभ वैदिक काल में ही हो चुका था, परंतु आज वैदिक कालीन शिल्प-कला का पत्यक्ष प्रमाण अथवा उसका भौतिक अस्तित्व हमें प्राप्त नहीं। संस्कृत साहित्य के द्वारा हम अपनी प्राचीन सभ्यता और उसकी शिल्प विद्या का वर्णन पढ़ लेते हैं। परंतु उस प्राचीन समय की शिल्प विद्या के प्रत्यक्ष प्रमाण हमें नहीं प्राप्त हैं; और शायद उनके भग्नावशेष विधि के विधान के अनुसार आज भारतीय भूमि के बहुत नीचे कहीं पड़े होंगे* ।

रामायण, महाभारतादिक ग्रंथों में हमें अपने देश का ऐसा वर्णन पढ़ने और सुनने को मिल जाता है, जिसका विचार करके आज भी हम दाँतों तले उँगली दबाते हैं। इन ग्रंथों में हम अपने पूर्वजों की शिल्प विद्या का वर्णन पढ़ते हैं। रामायण में हमें अयोध्या के महलों का वर्णन चकित करता है; लंका में रावण के गृहों का हाल पढ़कर हमें उसकी सत्यता पर पूरा विश्वास नहीं होता। महाभारत में हम युधिष्ठिर के

* सिंधु-सभ्यता ईसा से तीन सहस्र वर्ष के पहले की मानी जाती है। बलूचिस्तान, सिंध, एवं पश्चिमी पंजाब प्रांत में जो आधुनिक खोज हुई है, उससे जान पड़ता है कि उस काल में भी भारत के कुछ भागों में शिल्पकला का प्रचार था। उस समय की निर्मित छोटी मूर्तियाँ भी खोज में मिली हैं। मुद्राओं पर भी पशु और बैल वगैरः बने हैं। परंतु बड़ी मूर्ति अभी तक कोई नहीं प्राप्त हुई। सं०

राजसूय यज्ञ का वर्णन पढ़ते हैं। महाभारतकार ने युधिष्ठिर की यज्ञशाला का जो वर्णन किया है, उसे पढ़कर हमें यह भास होता है कि ये वर्णन अवश्यमेव असत्य और काल्पनिक होंगे। द्वारका-वर्णन, कौरवों की राजधानी देहली का और उसके महलों का वर्णन हमें आश्चर्य में डाल देता है। इन सबके अतिरिक्त महाभारतकार ने लाक्षागृह का जो वर्णन किया है, वह शिल्प विद्या की चरम सीमा का द्योतक है। आज हम इन सबको केवल पुस्तकों में पढ़ लेते हैं, पर इनका कहीं रंच मात्र भी चिह्न हमें प्राप्त नहीं।

कहा जाता है कि यह सब कोरी कल्पना है, अतः असत्य है। संभव है कि उन लोगों का ही विचार ठीक हो जो ऐसा कहते हैं। पर हमारे विचार में तो उस काल में ऐसी कल्पना करना नितांत असंभव नहीं तो बड़ा ही दुष्कर अवश्य प्रतीत होता है, जब कि उन वस्तुओं का अस्तित्व ही संसार में नहीं था जिनकी कल्पना की जाती है। उस समय में जब कि संसार में शिल्प-विद्या उस चरम सीमा को नहीं पहुँची रही होगी, जिसका वर्णन हम पढ़ते हैं, जब कि कल्पना करनेवालों के सम्मुख कल्पना का कोई आधार ही नहीं था, तो कल्पना किस बात की की जाती रही होगी। कल्पना या अनुमान का एक आधार अवश्य होना चाहिए।

यह संभव है कि जो वर्णन इन प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथों में आते हैं, उनमें अतिशयोक्ति हो; पर उसे कोरी कल्पना

कहना मेरे विचार में उपयुक्त नहीं। उन वर्णनों में तत्कालीन सभ्यता और स्थिति का बीज अवश्य ही विद्यमान है, उसमें कुछ सत्य का अंश अवश्यमेव वर्तमान है। इस प्रकार से हम भारतीय प्राचीन सभ्यता में शिल्पकला का अच्छा स्थान मानते हुए भी यह मानने को बाध्य हैं कि अति प्राचीन काल के शिल्प का प्रत्यक्ष प्रमाण, उसका भौतिक रूप, आज हमें प्राप्त नहीं। वह कालचक्र के अनुसार लुप्त हो गया। उसकी केवल स्मृति हमें भारतीय संस्कृत साहित्य की सुन्दर पदावलियों में प्राप्त है।

आज भारतीय ऐतिहासिक विद्वन्मंडल में एक ऐसा दल भी वर्तमान है जो यह कहता है कि भारतवर्ष की शिल्प-विद्या यूनान और ईरान देशों से आई है। उनका कहना है कि मौर्य काल से ही भारतवर्ष की शिल्प-कला और शिल्प-विद्या का आरंभ हुआ है और उसे उनका ज्ञान प्राप्त हुआ है। तथा इसी काल से भारतीयों का संबंध यूनानी और ईरानी आदि पश्चिमीय एशिया के देशों से स्थापित हुआ था; अतः उन्हीं की सभ्यता का प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ा तथा उन्हीं के संघर्ष से भारतीयों ने शिल्प-कला सीखी।

इस विचार का बहुत बड़ा प्रभाव बहुत दिनों तक ऐतिहासिक संसार में वर्तमान था, पर इधर के अनुसंधानों के कारण तथा विद्वानों के गहन और परिश्रमपूर्ण अध्ययन के द्वारा यह बात प्रकाश में आ रही है कि भारतीयों को शिल्प-कला का ज्ञान बहुत ही प्राचीन काल से है। उनकी सभ्यता के

विकास के साथ ही साथ इस अंग का भी उत्थान हुआ; और यह विद्या भारत में उतनी ही प्राचीन है जितना कि हमारा वैदिक साहित्य और हमारी वैदिक सभ्यता।

वैदिक काल के भारतीयों को शिल्प-कला का ज्ञान था; और इसके प्रमाण वैदिक मंत्रों से बढ़कर और नहीं हो सकते। और उन्हीं वैदिक विचारों तथा वैदिक संस्कारों का प्रभाव बहुत ही प्राचीन काल में भारतीय कला के इतिहास का मुख्य निर्माता हो चुका है। हैवेल साहब ने अपने "ए हैण्डबुक आफ इण्डियन आर्ट" (A Handbook of Indian Art) नामक पुस्तक में लिखा है—"Vedic thought, Vedic traditions and customs dominate the art in India in the earliest times." अर्थात् "बहुत प्राचीन काल से भारतीय कला पर वैदिक विचारों, आचारों तथा संस्कारों ने प्रभुत्व स्थापित कर रखा है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि आज संसार के इतिहासज्ञों में यह विचार बढ़ रहा है कि भारतीय कला किसी अन्य देश की दी हुई वस्तु नहीं है; वह बहुत ही प्राचीन काल से भारत में वर्तमान थी; और उसने अपनी उन्नति अपनी सभ्यता के साथ साथ की। यद्यपि आज हम अति प्राचीन काल का, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, शिल्पज्ञान और कला का भौतिक रूप नहीं उपस्थित कर सकते, पर इतने से ही यह नहीं सिद्ध हो जाता कि हमारे देश में उस काल में कला का कोई ज्ञान ही नहीं था।

अतः प्राचीन वैदिक काल के विवाद को हम यहीं छोड़ देते हैं, कारण कि उनका भौतिक रूप हम उपस्थित नहीं कर सकते। परंतु आज की खोजों ने तो यह निश्चित ही कर दिया है कि भारतीय कला का उत्थान, भारतीयों को शिल्पविद्या का ज्ञान, केवल मौर्य काल में ही नहीं हुआ था, बल्कि उसके बहुत पहले ही वह विद्या एक व्यवस्थित दशा को पहुँच चुकी थी तथा मौर्य काल में तो वह अपनी उन्नति की सीमा तक पहुँच गई थी।

मौर्यकाल के पूर्व के शिल्प का ज्ञान आज हमें उस काल की कुछ मूर्तियों के मिलने से प्रकट हो रहा है। ये मूर्तियाँ किसी देवता की अथवा पूजा की सामग्री नहीं हैं, बल्कि मौर्य काल के पूर्ववर्ती कुछ राजाओं की हैं। ऐसा मालूम होता है कि प्राचीन भारत में यह एक नियम था कि राजाओं की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं और रक्षित रखी जाती थीं।

ईसा के पूर्व की पहली शताब्दी में भास नामक नाटककार हो गए हैं। उनका एक ग्रंथ 'प्रतिमा' है। उस ग्रंथ की कथा रामायण की ही है, पर उस कथा के द्वारा उस काल की कुछ परिपाटियों का अनुमान किया जा सकता है जो भारतीय कला के इतिहास के प्रदर्शन में सहायक हैं। भास रामायण की कथा को नाटक रूप में लिखते हुए दशरथ के मरने पर भरत के आगमन का वर्णन करते हैं। उसमें उन्होंने बतलाया है कि जब भरत आए, तब लोग उन्हें एक मंदिर में ले गए जिसमें पत्थर की बहुत सी मूर्तियाँ रखी थीं। भरत ने

उन मूर्तियों को देव-मूर्तियाँ समझकर प्रणाम करना चाहा। इस पर वहाँ के रक्षक ने कहा कि महाराज, ये मूर्तियाँ देवताओं की नहीं हैं, आपके पितरों की हैं, जिन्होंने देश पर शासन किया है। भरत ने मूर्तियों को देखते देखते अंत में अपने पिता दशरथ की भी मूर्ति देखी। भरत ने उस रक्षक से पूछा—"क्योंजी! क्या जीवित लोगों की भी मूर्ति रखी जाती है?" उसने उत्तर दिया—"नहीं महाराज, केवल मृत राजाओं की ही मूर्तियाँ रखी जाती हैं।" इस पर भरत को ज्ञात हो गया कि मेरे पिता का भी परलोक वास हो गया। भास ने ऐसे मंदिरों का नाम 'देवकुल' दिया है।

इस कथा से यह अनुमान किया जाता है कि शायद उस समय में राजाओं की प्रतिमा रखने का नियम रहा होगा। यद्यपि भास का समय मौर्य काल के अंत का है*, पर फिर भी नाटककार के वर्णन से यह पता लगाया जा सकता है और अनुमान किया जा सकता है कि संभव है, उस समय यह प्रथा प्रचलित रही हो। उसी प्रथा के कारण उस समय के कुछ राजाओं की मूर्तियाँ आज स्फुट रूप में प्राप्त हुई हैं; और उन्हीं मूर्तियों ने यह सिद्ध कर दिखलाया है कि भारत में शिल्प-कला मौर्य काल के पूर्व से ही वर्तमान थी।

भारतीय कला के इतिहासज्ञों का मत है कि भारतीय कला का जो प्रथम प्रमाण प्रत्यक्ष तथा भौतिक रूप में इतिहासज्ञों

* भास के समय के विषय में बड़ा मतभेद है। सं०

के सम्मुख आज उपस्थित है, वह 'कुनिक अजातशत्रु' की एक मूर्ति है जो मथुरा म्यूजियम में रखी है और जिसके लेख से उक्त राजा की मूर्ति होने का प्रमाण मिलता है। कुनिक अजातशत्रु का समय ईसा से ६१८ वर्ष पूर्व माना जाता है। अतः यह मूर्ति मौर्य काल से कम से कम तीन सौ वर्ष पूर्व की हुई। इसी प्रकार पटने में दो मूर्तियाँ मिली हैं जो कलकत्ता म्यूजियम में रखी हैं। इन मूर्तियों पर पहले पहल स्वर्गीय एलेग्जेंडर कनिंघम साहब का ध्यान गया, जिन्होंने उन पर अपने विचार प्रकट किए। उनके मत से वे मूर्तियाँ यक्ष और यक्षिणी की थीं जो मौर्य-काल में निर्मित हुई होंगी। १८७६ से लेकर १६१६ तक ये मूर्तियाँ मौर्य काल की ही निर्मित समझी जाती थीं और लोगों का यह विचार था कि ये किसी यक्ष यक्षिणी की मूर्तियाँ हैं। १६१६ में श्रीयुत के० पी० जायसवाल ने इन मूर्तियों को देखा और उन्होंने उन मूर्तियों के नीचे खुदे हुए लेख का अध्ययन किया तथा उनकी परीक्षा की। उनकी परीक्षा और उनका मत प्रकाशित होते ही भारतीय कला के इतिहासज्ञों के सिद्धांत में एक प्रकार की क्रांति हो गई। उन्होंने अपनी एक पुस्तिका में इनकी खोजों का वर्णन किया है और सिद्ध किया है कि ये मूर्तियाँ न तो मौर्य काल की हैं और न यक्ष यक्षिणी की हैं, बल्कि ये मूर्तियाँ मौर्य काल के प्रारंभ के सैकड़ों वर्ष पूर्व के शिशुनाग वंश के उदयिन और नंदिवर्धन नामक दो राजाओं की हैं।

उन मूर्तियों के लेखों को पढ़कर उन्होंने यह बतलाया कि एक मूर्ति पर तो 'भगे अजा छोनिधि' लिखा हुआ है तथा दूसरी पर "सय खते वत नंदि" है। पहले लेख का अनुवाद करते हुए उन्होंने बतलाया है कि वह मूर्ति किसी अज नामक राजा की है और दूसरी नंदिवर्धन की है। नंदिवर्धन तो पुराणों के अनुसार शिशुनाग वंश का राजा था ही। वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य आदि पुराण नंदिवर्धन के पिता का नाम उदयिन बतलाते हैं। और हम जानते भी हैं कि उदायिन शिशुनाग वंश का एक राजा था। भागवत पुराण में इसी उदयिन का एक नाम अज भी दिया है। भागवत से मालूम होता है कि नंदिवर्धन अज का पुत्र था। ऐसी अवस्था में ऐसा मालूम होता है कि ये दोनों मूर्तियाँ ईसा के पूर्व की पाँचवीं शताब्दी के शैशुनागवंशीय भारतीय नरेशों की हैं जो पिता पुत्र थे।

अतः अब यह निर्विवाद है कि भारत में शिल्प-कला का ज्ञान पहले से ही वर्तमान था—उसका उत्थान और उसकी उन्नति हमारे देश में अपने ही ढंग से हुई थी। यह सिद्धांत अब निराधार और गलत प्रमाणित हो गया कि मौर्य काल से पूर्व भारतीय लोग शिल्प-कला का ज्ञान नहीं रखते थे; और पहले पहल उन्हें शिल्प का ज्ञान यवनों या ईरानियों से प्राप्त हुआ था।

इन मूर्तियों के द्वारा जहाँ यह पता लगता है कि मौर्य काल के पहले ही भारतीयों ने पत्थर के कार्य में, मूर्ति-निर्माण आदि

में यथेष्ट योग्यता प्राप्त कर ली थी, यहाँ इन मूर्तियों ने एक और बात में क्रांति उत्पन्न कर दी है। इन मूर्तियों पर बड़ी ही सुन्दर और चिकनी पालिश मौजूद है जिसके कारण उन मूर्तियों के निर्माताओं की चतुरता, उनके कला-ज्ञान और भारतीय शिल्पविद्या की स्थिति का परिचय मिलता है; तथा इन मूर्तियों ने यह बात प्रमाणित कर दी है कि भारतीय कला संसार की अन्य सभ्यताओं के द्वारा प्रचारित कला से न किसी अंश में कम थी और न कम प्राचीन थी।

इस पालिश के कारण ही कुछ विद्वानों को पहले यह कहने का साहस नहीं होता था कि मौर्यों के पूर्व में वर्तमान भारतीय कला की द्योतिका ये मूर्तियाँ हैं। मूर्तियों का निर्माण, उनकी सुन्दरता, उनकी काट छाँट, उनकी पालिश, उनका भाव-प्रदर्शन सभी अपूर्व हैं और भारतीय कला के उन्नति-पथ पर होने के द्योतक हैं। कनिंघम साहब ने इनका वर्णन करते हुए कहा है—"The easy attitude and the calm dignified repose of the figures are still conspicuous, and claim for them a high place amongst the best specimens of early Indian art." अर्थात् "सरलता तथा शांतिपूर्णता का भाव आज भी मूर्तियों में प्रकट तथा प्रत्यक्ष है; और ये मूर्तियाँ प्राचीन भारतीय कला के सुन्दर नमूनों में उच्च स्थान प्राप्त करने की अधिकारिणी हैं।"

इस प्रकार आज यह सिद्ध हो जाता है कि भारतीय कला का उत्थान और उसकी उच्च अवस्था मौर्य काल के पहले ही हो चुकी थी। मौर्य काल में तो राज्य की छत्र-छाया और सहायता प्राप्त करके यह और भी उन्नति-पथगामिनी बनी। अतः अब हम विशेषतः मौर्य कालीन स्थिति पर ही दृष्टि डालते हैं।

मौर्य काल में शिल्प-विद्या की उन्नति हुई होगी तथा वह पूर्व से ही वर्त्तमान थी, इसका अनुमान और प्रमाण हम उपर्युक्त बातों से लगा सकते हैं। मौर्य काल के शिल्प का प्रदर्शन तीन विभागों में बाँटा जा सकता है—

(१) मौर्य काल के पूर्व के संस्कारों से संस्कृत जो कला प्रदर्शित की जाती थी, जिसका आगे चलकर उत्थान हुआ और जो वैदिक देवताओं की मूर्त्ति बनाने में अथवा पौराणिक काल की देवमूर्त्तियों में प्रकट हुई।

(२) अशोक के शिलालेख और स्तंभलेख के रूप में जो कला प्रदर्शित हुई और जिसे आज भी हम भिन्न भिन्न स्थानों में देख सकते हैं।

(३) ईंटों और पत्थरों द्वारा अच्छी और बृहत् इमारतों के रूप में कला प्रदर्शित हुई, जिसका व्यवहार हम साँची के स्तूप से पाते हैं। इसके साथ ही साथ काठ पर बने हुए सुन्दर काम भी देखे जाते हैं। ये काठ के काम साँची स्तूप के चारों तरफ उसके घेरे पर बनाए गए हैं।

मौर्य काल में महलों और किलों की क्या दशा थी, इसका वर्णन भी मेगास्थनीज ने किया है। उसके वर्णनों से यह मालूम होता है कि सम्राट् के बड़े बड़े किले थे जो बड़ी सुन्दरता तथा मजबूती से बनाए गए थे, यद्यपि उस समय इन कार्यों के लिये लकड़ी का ही अधिक प्रयोग होता था। मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र का वर्णन करते हुए लिखा है कि नगर के चारों ओर काठ की एक दीवार थी। इससे भी तत्कालीन कला का ज्ञान हो जाता है। पाटलिपुत्र ऐसे लंबे चौड़े नगर के चारों ओर एक दीवार खड़ी करना, कम शिल्पज्ञान और शिल्पकला का द्योतक नहीं है। परंतु अभाग्य से हम आज पाटलिपुत्र की भूमि के अंदर पड़े हुए और नष्ट हुए इन भग्नावशेषों को नहीं देख सकते।

महान् अशोक के राज्य काल में भारतीय स्थिति सुख और शांति की थी। अशोक ऐसा प्रजापालक और प्रबल शासक पाकर समाज की जो स्थिति होनी चाहिए थी, वही हुई; और भारत ने अपनी चतुरता और महत्ता इस विषय में भी, अपने शिल्पज्ञान के प्रदर्शित करने में भी, उसी प्रकार प्रकट की है जिस प्रकार अन्य विषयों में की है। यूनानी लेखकों द्वारा हमें यह पता चलता है कि चन्द्रगुप्त का राजमहल फारस के राजमहलों की अपेक्षा किसी प्रकार कम नहीं था। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अशोक-काल में ही नहीं, उसके पूर्व भी भारतीय कला अच्छी स्थिति पर पहुँच चुकी थी। परंतु इन सबके नष्ट हो जाने के कारण हमें अशोक के राज्य-

काल से ही मौर्यकालीन कला पर प्रकाश डालना पड़ता है। साथ ही साथ यह भी ज्ञात होता है कि महलों आदि के लिये, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लकड़ी ही का प्रयोग अधिक होता था जो शीघ्र नष्ट हो जानेवाला पदार्थ है। ईंटों और पत्थरों का प्रयोग इमारतों आदि में अशोक के पूर्व बहुत ही कम होता था*। इनका विशेष रूप में प्रयोग अशोक-काल से ही हुआ था, ऐसा मालूम होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इसके पूर्व भारतीयों को पत्थर के प्रयोग अथवा प्रस्तर की शिल्प-कला का ज्ञान नहीं था; पर इतना अवश्य है कि अशोकीय राजकाल के पूर्व इनका प्रयोग इमारतों आदि में कम होता था।

अशोकीय काल में भी इमारतों में जो पत्थरों और ईंटों का प्रयोग आरंभ हुआ, उसका प्रमाण हमें महलों आदि से नहीं मिलता। कारण यह है कि अशोक के किसी पत्थर आदि के महल का पता अभी तक प्रत्यक्ष रूप में नहीं लगा; उसके भग्नावशेष अभी प्रकाश में नहीं आए। परंतु अशोक द्वारा बनवाए हुए स्तूप और कुछ दान दी हुई गुफाएँ आज भी हमारे सामने हैं जो इस बात को प्रमाणित करती हैं कि उसके काल में भारतीयों ने इमारत में पत्थर का प्रयोग करना आरंभ किया था और उस समय यह विद्या अच्छी अवस्था में थी। बल्कि आज अशोक की इमारतें ही यह बात प्रमाणित

* पश्चिमी भारत की आधुनिक खोजों ने इस मत की जड़ ही हिला दी है। सं०

करती हैं कि शिल्पविद्या और पत्थरों का इमारतों में प्रयोग बहुत पूर्व से ही वर्त्तमान रहा होगा; क्योंकि अशोक-काल में जो उनके रूप प्रदर्शित हुए, वे आश्चर्यजनक और पूर्णता के द्योतक हैं।

स्तूपों में बौद्धों के सारे स्तूप प्रसिद्ध हैं। इनमें भी साँची का स्तूप मशहूर है। अशोक ने इस स्तूप का निर्माण कराया था, यद्यपि यह स्तूप अपने प्राचीन रूप में नहीं वर्त्तमान है बल्कि उसका विकसित रूप हो गया है। कहा जाता है कि ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में यह स्तूप और भी सुन्दर बनाया गया और इसका रूप परिवर्तित हो गया।

इसके सिवा पहाड़ों और चट्टानों में गुफाएँ बनाई गई हैं। वे भारतीय शिल्प का एक उत्तम उदाहरण हैं और उनमें भारतीय शिल्प-कला का प्रदर्शन हुआ है। इन्हीं गुफाओं में से एक अति प्रसिद्ध गुफा है जिसका नाम लोमश ऋषि की गुफा है। यह गुफा अशोक ने २५७ ई० पू० में आजीवकों को दान में दी थी। ये आजीवक उस काल में भारतवर्ष में एक ऐसे विशेष धर्म के माननेवाले थे जो जैन अथवा बौद्ध आदि धर्मों से भिन्न था। इस गुफा के भीतर शिला को काटकर एक बृहत् विस्तृत कमरा बनाया गया था जिसकी लम्बाई ३३ फुट और चौड़ाई १९ फुट थी। इसकी दीवार, छत और फर्श बिलकुल चिकने तथा साफ हैं और उन पर बहुत ही सुंदर पालिश भी की हुई है।

इसी प्रकार पश्चिमीय घाट आदि में और भी सुंदर गुफाएँ मिलती हैं जिनमें से बहुत सी अशोकीय समय की समझो

जाती हैं। 'ये गुफाएँ काटकर ऐसी बना दी गई हैं कि उनके अंदर कमरे निकल आए हैं; और वे कमरे ही बौद्धकालीन चैत्य कहलाते हैं, जिनमें साधुओं अथवा भिक्षुओं आदि की सभा-समितियाँ हुआ करती थीं। ये चैत्य ही उस काल में बौद्ध मन्दिर थे।

इन गुफाओं में जो कला प्रदर्शित हुई है और इनके द्वारा जिस शिल्प-विद्या का रूप प्रत्यक्ष होता है, वह अवर्णनीय है। यही कला आगे चलकर इस उन्नति की अवस्था में पहुँची, इसका इतना उत्थान हुआ, भारतीयों ने इसमें इतनी योग्यता प्राप्त की कि ईसा के बाद छठी शताब्दी में अथवा मौर्य काल के ८०० वर्ष बाद अजंता की गुफाओं का निर्माण इन्होंने किया जिसकी कला, जिसके पत्थर पर के बने चित्र और जिसकी महत्ता आज संसार मानता है और जिसे आज संसार की प्राचीन कलाओं में एक मुख्य स्थान प्राप्त है। इस उन्नति—इस कला के उत्थान—के बीज का श्रेय मौर्य्य काल को प्राप्त है। कारण कि इस प्रकार से शिल्प कला का प्रयोग अशोक काल से आरंभ हुआ, अथवा अशोक काल से ही उस पर अधिक ध्यान दिया गया। हम मौर्य्यकालीन कला का अथवा अशोकीय कला का अध्ययन उसकी इमारतों की बनावट से अधिक उस काल की पत्थर पर की खुदाई की कला से कर सकते हैं। पत्थर गढ़ने की कला जो अशोकीय काल में दिखलाई पड़ी, वह भारतीय शिल्प विद्या की

चरम सीमा प्रदर्शित करती है। पत्थर की शिलाओं पर लेख खुदवाना, ऊँचे से ऊँचे सुंदर स्तंभों को खड़ा करना, और उन पर लेख लिखवाना भारतीय कला की उन्नत दशा बतलाते हैं। इसके सिवा सारनाथ में अशोकीय समय की कुछ पत्थर की कारीगरी की वस्तुएँ मिली हैं जो और भी आश्चर्यजनक हैं। सारनाथ में पत्थर के बने हुए सिंहों की जो मूर्ति मिली है, वह अद्भुत है; और उससे पता लगता है कि मौर्य काल में पत्थरों की गढ़ाई भी अपनी प्रौढ़ावस्था में वर्तमान थी। विंसेंट स्मिथ साहब ने अपनी पुस्तक में जॉन मार्शल महाशय का एक वाक्य उद्धृत किया है, जिसमें उन्होंने इन सिंह-मूर्तियों का वर्णन किया है। वे लिखते हैं—

"Both bell and lions are in excellent state of preservation and masterpieces in point of both stlye and technique—the finest carvings, indeed that India has yet produced, and unsurpassed, I venture to think, by anything of their kind in the ancient world."*

अर्थात् "वे सिंह कला के प्रकार और उसके रूप में सर्वोत्तम तथा उच्च हैं और उनकी उत्तम गढ़न प्राचीन संसार की इस प्रकार की कला में तथा भारतीय शिल्प में अद्वितीय है।" इन वाक्यों से और दूसरे विद्वानों के ऐसे विचारों

* V. A. Smith—Oxford History of India.

से हम अनुमान कर सकते हैं कि तत्कालीन भारतीय कला और शिल्प उत्तम कोटि के थे।

बड़े से बड़े पत्थरों का तराशना, उनको गढ़ना, उन पर पालिश करना आदि सभी प्रचलित था। इन पत्थरों के ऊपर के कटे हुए अक्षर भी सुंदरता और समानता के साथ खुदे हुए हैं। इस प्रकार से हमने संक्षेप में मौर्यकालीन कला के विषय में कुछ शब्द लिख दिए हैं। हमने देखा कि भारतवर्ष में शिल्प विद्या का जो ज्ञान बहुत ही प्राचीन है, उसके ही विकसित रूप को मौर्य काल प्रदर्शित करता है। प्राचीन शिल्प के जो भाव-विशेष हमें प्राप्त हो रहे हैं, वे ऐसे हैं जो प्राचीन संसार की कला के इतिहास में मुख्य स्थान प्राप्त करेंगे। इन्हीं अवशेषों के कारण आज हम यह बात एक बार फिर दुहरा सकते हैं कि भारतीय सभ्यता पूर्ण थी। भारतीय नेताओं का दृष्टिकोण समाज के हर एक कोने तक गया था, उसके अंग-विशेष तक ही में परिमित नहीं था। बल्कि वह जीवन के सभी अंगों की ओर, मानव प्रकृति के सभी रहस्यों के उद्घाटन की ओर, गया था। और आज यही भारतीय प्राचीन आर्य सभ्यता की महत्ता है, उसकी विशेषता है, कि यदि वह सर्वांश में नहीं तो अंशतः अवश्य पूर्ण थी और इतनी अवश्य थी कि यदि संसार की अन्य प्राचीन सभ्यताओं से बढ़ी चढ़ी नहीं थी तो उनसे किसी अंश में कम भी नहीं थी।'

पाँचवाँ अध्याय

मौर्य काल में भारत की सामाजिक स्थिति

"समाज" शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक होता है। समाज के अर्थ में देश का जीवन, उसके प्रत्येक अंग की भिन्न भिन्न स्थितियाँ आदि सभी सम्मिलित हैं। समाज के अर्थ में देश का राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि सभी जीवन सम्मिलित हैं। इन सबकी स्थिति मिलकर ही किसी देश की सामाजिक स्थिति बनती है। इन सभी भिन्न भिन्न अंग विशेषों की विवेचना ही सामाजिक विवेचना है।

पर इस प्रकरण में हमने देश की सामाजिक स्थिति का तात्पर्य उसके इतने व्यापक अर्थ में नहीं लिया है; क्योंकि इन सभी विषयों पर अलग अलग विचार किया जा चुका है। इस प्रकरण में भारत की सामाजिक स्थिति का तात्पर्य देश के साधारण रहन-सहन, आचार-विचार और रीति-रिवाजों से है। यहाँ उससे हमारा तात्पर्य इतना ही है कि मौर्य काल में भारत की (साधारण जनता की) स्थिति, उसका आचार-विचार और रहन-सहन कैसा था।

ग्रामीण स्थिति

भारतीय सामाजिक जीवन में आज से ही नहीं, अत्यन्त प्राचीन काल से ग्राम का मुख्य भाग रहा है। बहुत प्राचीन

समय से ही हमारे सामाजिक जीवन की नींव, उसके संग्रंथन का आधार ग्राम ही रहा है। ग्रामीणता ही हमारी स्वतंत्रता और शक्ति का केन्द्र थी।

दुर्भाग्य से आज ग्रामों के संघटन का रूप, उनकी व्यवस्था, हमें पूर्ण रूप में अवगत नहीं है। परंतु हम जातक आदि के वर्णन से तथा मौर्यकालीन विद्वान् कौटिल्य अथवा विदेशी दूत मेगास्थनीज़ के स्फुट वर्णनों से जो कुछ जान सके हैं, उसी से उस समय के लोगों के रहन-सहन का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

देश बड़ा विस्तृत था। स्थान की कमी न थी। उसकी तुलना में देश की आबादी और देश के अंदर की भिन्न भिन्न जातियों की संख्या कम थी। प्रत्येक जाति दूर दूर बसती थी। एक स्थान पर कुछ कुछ कुटुम्ब अपने समूह के रूप में स्थित थे। जंगलों और नदियों द्वारा ये विलग थे। अतः इन जातियों को अथवा इस प्रकार अलग अलग बसे हुए ग्रामों को स्वतंत्र रूप से अपनी उन्नति करने का, अपने ही पैरों पर खड़े होने का यथेष्ट अवसर मिला। आपस में एक दूसरे गाँव का सम्मिलन भी कार्य-विशेष के लिये शांति तथा सद्भाव से पूरित होकर हो जाया करता था। इन ग्रामीणों की सामाजिक स्थिति साधारण और सीधी थी। एक एक गाँव में कुछ घरों का समूह था जिनको अलग करनेवाले छोटे छोटे ग्रामीण-पथ थे। इन्हीं गाँवों के अगल-बगल लंबे चौड़े

मैदान पड़े रहते थे जिनमें ये ग्रामीण खेती किया करते थे। ग्रामीण लोग विशेष रूप से गो-पालन और पशु-पालन करते थे। सारी खेती का बोझ इन्हीं पशुओं पर रहता था। इसी लिये जहाँ खेतों के बड़े बड़े मैदान होते थे, वहीं चरागाहों के भी सुविस्तृत मैदान होते थे, और उन्हीं के द्वारा पशु पालित होते थे। प्रायः गाँवों के आस-पास जंगल रहते थे जिन पर ग्रामीणों का साधारणतः स्वत्व होता था और उसकी लकड़ियाँ आदि वे ले सकते थे, यद्यपि वे जंगल साधारणतः छोटे मोटे वृक्षों के समूह ही होते थे।

पशु तो भिन्न भिन्न संख्या में अलग अलग गृहस्थों के होते थे, पर ऐसा अनुमान किया जाता है कि चरागाह साधारणतः एक ही होता था जिसमें गाँव भर के पशु चरते थे। खेत जोते जाते थे और उनकी सिंचाई का भी प्रबंध होता था। राजा, समाज अथवा उस गाँव के समूह विशेष नहर आदि का विशेष प्रबंध कर लेते थे। भूमि गाँव भर की होती थी, उसे सब मिलकर जोतते थे और उत्पत्ति को बराबर बराबर बाँट लिया करते थे*। भूमि बेचने का किसी एक को अधिकार नहीं था।

संपत्ति का बँटवारा होते समय बड़े लड़के को कुछ अधिक भाग मिलता था। गौतम-स्मृति से यह भी पता चलता है

---

* यद्यपि कुछ स्थानों पर ऐसी प्रथा का होना संभव है, परंतु यह बहुव्यापक नहीं मानी जा सकती। सं०

कि सब से छोटे लड़के को भी बँटवारे में कुछ अधिक भाग मिलता था। पर इसका उल्लेख बाद में कहीं नहीं मिलता। शायद बाद में यह प्रथा उठ गई हो। स्त्रियों की कोई विशेष संपत्ति नहीं होती थी; परंतु उनके व्यक्तिगत आभूषणों और कपड़ों पर उनका स्वत्व अवश्य था। संपत्ति के अन्य विभाग (भूमि आदि) में उनका कोई अंश नहीं था।

सर्वसाधारण के पशुओं के चरने के लिये ही चरागाह या लकड़ी के वास्ते जंगल रखे जाते थे। किसी का कोई विशेष स्वत्व, चाहे वह पैतृक हो या खरीदकर हो, उस पर नहीं हो सकता था।

इन ग्रामों के ग्राम-मुखिया भी होते थे। इन्हीं के द्वारा ग्रामों का शासन कार्य हो जाया करता था। ये मुखिया ग्राम-पंचायतों द्वारा गाँव के कुल काम करते थे। इन मुखियों को शासन तथा न्याय के भी कुछ अधिकार प्राप्त थे। कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में इनके अधिकारों और कर्तव्यों का वर्णन किया है। कौटिल्य के वर्णन से ज्ञात होता है कि ये लोग ग्रामों में प्रेक्ष्यागार, वाटिका आदि बना सकते थे। ये अपने गाँव से दूसरे गाँवों द्वारा संबंध स्थापित करने के लिये सड़कें भी बना सकते थे।

इन ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति भी साधारण थी। न तो इनमें कोई ऐसा अमीर ही होता था जो बड़ा आदमी कहा जा सके, न कोई गरीब ही होता था। अपनी आवश्यकता

की, भोजन और वस्त्र की पूर्ति वे सहज में कर लेते थे और संतुष्ट रहते थे। साधारण जनता सीधी थी। कोई अपराध वा पाप इनमें भयंकर रूप नहीं धारण करता था। ये परिश्रमशील और ईमानदार होते थे। भोजन भर प्राप्त कर लेने पर सुख और शांति का जीवन निर्वाह करते थे।

इनकी प्रसन्नता में बाधा डालनेवाली यदि कोई वस्तु थी तो वह था अकाल। इसके भयंकर कोप से वे सदैव डरा करते थे। एक गाँव से दूसरे गाँव के अलग रहने का यदि कोई दोष हो सकता था, तो यही था कि अकाल के दिनों में इन्हें बड़ा कष्ट उठाना पड़ता था, यद्यपि इसके निराकरण के लिये सिंचाई का पूरा प्रबंध था। मेगास्थनीज़ ने लिखा है कि लोगों को अकाल से बचाने के लिये नहरों का निर्माण होता था। अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिये चंद्रगुप्त ने एक विभाग बनवाया था। राजा को जो धन कर के रूप में मिला करता था, उसका कुछ भाग अलग रख दिया जाता था और उसी से दरिद्र अकाल-पीड़ितों की सहायता की जाती थी। पर फिर भी कई अकालों का उल्लेख मिलता है जिनसे ग्रामीण जनता कभी कभी पीड़ित हो जाया करती थी*। इस प्रकार देश की अधिकांश जनता गाँवों में सुखपूर्वक रहा करती थी। देश के सामाजिक जीवन में राजा, पुरोहित, सैनिक, नागरिक आदि सभी होते थे जिनका मुख्य

* Budhist India, Chap. III, by Rhys Davids.

स्थान था; परंतु उस समय वास्तव में भारतीय जनता ग्रामीण थी। आज दिन भी यहाँ के ७५ फी सदी मनुष्य गाँवों में ही रहते हैं जब कि हजारों की संख्या में सुंदर शहर बसे हुए हैं। उस समय का इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि इतने बड़े देश में नगरों की संख्या बहुत ही थोड़ी थी। अधिकतर संख्या ग्रामों ही की थी और उन्हीं में लोग रहते थे।

इसी लिये कहा जाता है, कि भारतीय सामाजिक संग्रंथन का आधार प्राचीन ग्रामीणता और प्राचीन ग्रामीण संस्थाएँ थीं। ये गाँव इतने स्वतंत्र, सुखी और स्वावलंबी थे कि भारतीय सामाजिक इमारत की नींव धारण कर सकते थे। इनकी स्वतंत्रता और उन्नति में बाधा देनेवाली जमींदारी प्रथा का जन्म उस समय तक नहीं हुआ था। अतएव उनसे बेगार भी नहीं ली जाती थी।

मेगास्थनीज तो इस बात पर आश्चर्य प्रकट करता है कि देश में युद्ध हुआ करते थे और कृषक अपना काम किया करते थे—उनके कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि इनके ऊपर जबरदस्ती करना और इनसे जबरदस्ती काम लेना समाज में बुरा समझा जाता था।

वे ग्रामीण अपनी ग्रामीणता, अपनी वंश-मर्यादा और अपनी स्वतंत्रता का गौरव रखते थे; और वे अपना शासन अपने ग्राम-मुख्य द्वारा कराते थे, जो प्रायः चुने जाते थे अथवा जिनका पद पैतृक होता था। इस प्रकार देश के अधिकांश

जनसमुदाय के रहन-सहन का पता हमें चल जाता है; और हम देखते हैं कि देश के जन-समुदाय पर न तो शासक का और न जमींदारी आदि बुरी प्रथाओं का ऐसा प्रभाव था जिससे वह परमुखापेक्षी और निर्बल हो जाता। वे ग्रामीण स्वतंत्र, सुखी और स्वावलंबी थे और हमारी सामाजिक इमारत की सुदृढ़ एवं सुंदर नींव थे जो अपने ही सामाजिक नियमों द्वारा संचालित होते और संसार-यात्रा में गौरव के साथ आगे बढ़ते थे।

नागरिक स्थिति

दुर्भाग्य से प्राचीन नगरों का वर्णन नहीं मिलता। मौर्य काल में पाटलिपुत्र का वर्णन मेगास्थनीज़ के स्फुट लेखों द्वारा मिल जाता है। हम उसी के आधार पर नगरों का वर्णन और नागरिकों की स्थिति समझ सकते हैं। नगरों को घेरनेवाली बड़ी बड़ी दीवारें, बड़े बड़े फाटकों तथा खाइयों के वर्णन हमें मिलते हैं। उन्हीं विवरणों से हम यह अनुमान कर लेते हैं कि उस समय में नगरों की स्थिति बढ़ी चढ़ी थी और लोग सम्पत्ति-शाली थे। पाटलिपुत्र का वर्णन करते हुए यवन-दूत मेगास्थ-नीज़ ने लिखा है—"उसके चारों ओर काठ की दीवारें हैं और उसके चारों तरफ खाई है जिसमें सोन का जल भरा है।" संभव है, इसी प्रकार अन्य नगरों का भी निर्माण होता रहा हो। यदि मेगास्थनीज़ के इस वर्णन में सत्यता है, तो उस समय भारत के नगरों की स्थिति बड़ी अच्छी रही होगी।

नगरों में सड़कों का भी निर्माण होता था जिनसे नागरिकों के आने जाने में सुबिधा होती थी। सड़कें सुव्यवस्थित दशा में रखी जाती थीं। एक एक मील की दूरी पर पथ-प्रदर्शक पत्थर लगा दिए जाते थे। कहा जाता है कि पाटलिपुत्र से लेकर पश्चिमोत्तर के सीमा प्रांत तक एक सीधी सड़क बनी हुई थी जिसकी लंबाई दो हजार मील थी। इसी प्रकार कौटिल्य से पता चलता है कि राजधानी से सड़कें चारों दिशाओं को जाती थीं। इन्हीं सड़कों के द्वारा देश की व्यापारिक उन्नति होती थी। इन्हीं सड़कों से देश के सामाजिक जीवन की उन्नति का पता चलता है। अर्थ-शास्त्र में कई प्रकार की सड़कों का नाम मिलता है। यथा, राजमार्ग जिन पर राजा का जुलूस निकला करता था, रथ-पथ जिन पर रथ चला करते थे; पशु-पथ जिन पर पशु चला करते थे; मनुष्यपथ, खराष्ट्र-पथ आदि बहुत सी छोटी छोटी सड़कें थीं। सेना के रहने के स्थानों को भी सड़कें जाया करती थीं। ये 'व्यूह-पथ' के नाम से पुकारी जाती थीं। 'श्मशान-पथ' वह पथ था जो श्मशान की ओर जाता था। इस प्रकार अनेक सड़कों के नाम मिलते हैं। जिन नगरों में हर प्रकार की सड़कें रही हों और उन पर पथ-प्रदर्शक पत्थर लगे हों, उन नगरों के निवासियों की स्थिति कैसी उत्तम रही होगी, इसका अनुमान सरलता से किया जा सकता है।

नगर में रहनेवालों की स्थिति बड़ी अच्छी थी। वे धनी और मानी थे। मेगास्थनीज़ ने भारतवासियों की रीति-रस्मों का वर्णन करते हुए लिखा है—"भारतवासी किफायत से रहते हैं। वे चाल-ढाल में सादे और मितव्ययी होते हैं; और इसी कारण सुख से रहते हैं। देश में चोरी नहीं होती। लोग सरल हैं और उनका व्यवहार उत्तम है, इस कारण वे न्यायालय का मुख कम देखते हैं*।" इसके द्वारा हमें भारतीयों की चित्त-वृत्ति का ज्ञान हो जाता है। देश में ईमानदारी थी और उस समय के लोग ऐसा कार्य्य नहीं करना चाहते थे जिससे प्राचीन सामाजिक संघटन को आघात पहुँचे और देश की सुख-शांति में बाधा पड़े। यह बात सामाजिक स्थिति की उच्चता और उन्नतावस्था की द्योतक है। सामाजिक मनोवृत्ति का वर्णन करते हुए वह आगे चलकर लिखता है—"वे एक दूसरे पर विश्वास रखते हैं, उनके गिरवी और धरोहर के अभियोग नहीं होते, वे मोहर या गवाही की आवश्यकता नहीं समझते। अपने घर और अपनी संपत्ति को प्रायः अरक्षित छोड़ देते हैं। इससे पता चलता है कि वे एक उत्कृष्ट और उदार भाव के मनुष्य होते हैं*।" मेगास्थनीज़ की कलम से निकले हुए ये वाक्य ध्यान देने योग्य और विश्वसनीय हैं। वह यवन था। वह स्वयं एक प्रतिष्ठित और सभ्य

* मेगास्थनीज़ का 'भारत'। अनुवादक पं० रामचंद्र शुक्ल। (पेज ३३)

राष्ट्र का विचारशील पुरुष था। उसके द्वारा कही गई बातें पक्षपात-रहित और सत्य होंगी। अतः उसके उपर्युक्त वाक्यों से हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं (और जैसा कि हम भारतीयों का विचार है) कि हमारे सामाजिक जीवन पर संसार के अन्य सभी देशों से अधिक मनुष्यता और माननीय सद्भावों की गहरी छाप पड़ी है। यह सामाजिक मनोवृत्ति, जिसका वर्णन मेगास्थनीज़ ने किया है, उच्च भारतीय आर्य सभ्यता की पूर्ण महत्ता और सुंदरता की द्योतक है। मेगास्थनीज़ ने एक स्थान पर लिखा है—"झूठी गवाही देनेवाला अवयव-भंग का दण्ड भोगता है। जो मनुष्य किसी का अंग भंग कर देता है, उसे बदले में केवल उसी अंग की हानि नहीं उठानी पड़ती, बल्कि उसका हाथ भी काट लिया जाता है।" यह नियम बड़ा ही कठोर मालूम पड़ता है। आज का सभ्य संसार कहेगा कि यह नियम सर्वथा असभ्यतापूर्ण और अन्याययुक्त था। परंतु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस नियम में देश की छिपी हुई पवित्र सामाजिक मनोवृत्ति की छाया दिखाई पड़ेगी। संसार में कहीं जो कोई कार्य या कोई दण्ड प्रचलित होता है, वह इस बात का द्योतक होता है कि उस समाज वा देश की सभ्यता या सामार्जिक मनोवृत्ति किस हद तक पहुँची है। उदाहरणतः मान लिया जाय कि अगर आज देश की मनोवृत्ति अधिकतर इस बात की ओर है कि चोरी करना बुरा नहीं है, इससे समाज की कोई हानि नहीं होती,

तो कदापि चोरी करना अपराध नहीं समझा जाती और उसके लिये दण्ड की व्यवस्था भी नहीं होती। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि दण्ड की व्यवस्था इस बात को द्योतक है कि उस समाज को सभ्यता और उसके विचार कितने उच्च हैं। इसी प्रकार झूठ बोलने के समान छोटे से अपराध को दण्ड-व्यवस्था इस बात को द्योतक है कि भारतीय आर्य्य सभ्यता के प्रभाव से उस काल में सामाज़िक मनोवृत्ति इस अवस्था को पहुँची थी कि छोटे से छोटा बेईमानी का कार्य्य भी समाज को भयंकर हानि पहुँचाता है; और इस कारण उसकी भयंकर दण्ड-व्यवस्था होना भी आवश्यक है। मेगास्थनीज ने भारतीयों के सौंदर्य्य-प्रेम की भी विवेचना की है। वह यवन था। यूनानी स्वयं बड़े सौंदर्य्य-प्रेमी थे। संसार इस बात से परिचित है कि प्राचीन काल में यूनानी इस बात के लिये विख्यात थे कि वे सुंदरता पर विशेष ध्यान देते और स्वयं भी सुंदर होते थे। अतः ऐसे सौंदर्योपासक देश का निवासी होकर जब उसने भारतीयों की सुंदरता और स्वच्छता की प्रशंसा की है, तो यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि भारतीय सामाजिक जीवन में उस समय स्वच्छता और सौंदर्य्य का मुख्य स्थान था। उसके स्फुट लेख से पता चलता है—"अपनी चाल की साधारण सादगी के प्रतिकूल वे बारीकी और सजावट के प्रेमी होते हैं। उनके वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता है और वे वस्त्र मूल्यवान् रत्नों से विभूषित रहते हैं। मलमल के बने

हुए अत्यंत सुंदर और फूलदार वस्त्र भी वे लोग पहनते हैं। सेवक लोग उनके पीछे पीछे छाता लगाकर चलते हैं; क्योंकि वे सौंदर्य और स्वच्छता का बड़ा ध्यान रखते हैं तथा रूप के सँवारने का कोई उपाय उठा नहीं रखते*।" यह है मेगास्थनीज द्वारा वर्णित भारतीयों की शारीरिक स्वच्छता और सौंदर्य का वर्णन। इस वर्णन से हमें भारतीय सामाजिक स्थिति के संबंध की दो बातों का पता लग जाता है। एक तो यह कि भारतीय अपने सामाजिक जीवन में स्वच्छता और सुंदरता को मुख्य स्थान देते थे। यह भी देश में आर्य सभ्यता के पूर्ण रूप से वर्तमान रहने का प्रमाण है। स्वच्छता और सुंदरता का ध्यान रखना किसी के पूर्ण रूप से सभ्य होने का प्रमाण है; क्योंकि जंगलियों में सफाई और सुंदरता का ध्यान नहीं रहता। यदि भारतीयों में सफाई और खूबसूरती के विषय में इतना ध्यान रखने की बात सत्य है, तो इसमें संदेह नहीं कि उस समय के भारतीय उच्च कोटि की सभ्यता में पलते थे।

दूसरी बात जो इस वर्णन से प्रकट होती है, वह समाज में धन और वैभव के पूर्ण उत्कर्ष की है। जिस समाज के मनुष्य इस शान और नफासत के साथ रहेंगे, वह समाज कितना धनी और सुखी होगा, इसका अनुमान करना कठिन नहीं है।

* देखो मेगास्थनीज़ का 'भारतीय वर्णन'

इतना ही नहीं, मेगास्थनीज के लेख से शारीरिक सुंदरता के लिये व्यायाम करने की प्रथा का भी पता चल जाता है। उसने लिखा है—"भारतीयों के व्यायाम करने की सर्वप्रिय रीति संघर्षण है जो कई तरह से किया जाता है।" यूनानी शारीरिक सुंदरता में संसार की अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक सुंदर कहे जाते थे। उसी एक यूनानी के द्वारा उस काल के भारतीयों की शारीरिक सुंदरता का वर्णन सुनकर यह विश्वास होता है कि भारतीय समाज में शरीर को सुंदर बनाने पर इतना अधिक ध्यान दिया जाता था कि वे यवन लेखकों द्वारा भी प्रशंसित हो सकते, और होते थे।

सामाजिक मनोवृत्ति का जैसा अच्छा वर्णन हमें मेगास्थनीज के स्फुट लेखों से प्राप्त हो सका है, वैसा वर्णन अन्यत्र नहीं मिल सकता। भारतीयों में ईमानदारी, सज्जनता, सादगी, प्राचीन संस्कारों के अनुसार चलने की प्रवृत्ति, स्वच्छता, सौंदर्य आदि जो बातें उसने देखीं और जिनका उसने वर्णन किया, वे यह बतलाने के लिए पर्य्याप्त हैं कि हमें उस समय के सामाजिक जीवन का बहुत कुछ पता लग गया। अब थोड़े में हमें यह देख लेना चाहिए कि वर्तमान काल में जो तत्त्व हमारी सामाजिक व्यवस्था का अटल रूप है, जिसका हमारे जीवन पर इतना गहरा रंग चढ़ा है, जिसका संस्कार पूर्ण रूप से हमारे ऊपर बना है, उसकी दशा उस समय में क्या थी। मेरा तात्पर्य जाति पाँति की व्यवस्था से है।

भारतीय सामाजिक जीवन में वर्ण-व्यवस्था या जाति-व्यवस्था एक ऐसी वस्तु रही है जिसकी प्रधानता समाज में बहुत प्राचीन काल से वर्तमान थी और आज तक जिसका प्रभाव तथा संस्कार हम पर वर्तमान है। भारतीय आनुमानिक इतिहास के आरंभ से लेकर, आज तक यह व्यवस्था भारतीय समाज में किसी न किसी रूप में प्रचलित मिलती है। यहाँ हमें यह दिखलाने की आवश्यकता नहीं है कि उस व्यवस्था की उत्पत्ति कैसे हुई और उसकी क्या आवश्यकता पड़ी अथवा उससे क्या हानि लाभ हुआ। हम यहाँ पर केवल उसके उस रूप का वर्णन करेंगे, जो मौर्य काल में था और जिसका पता हमें जातकों आदि की कथाओं से लगाना पड़ता है।

विद्वानों में इस विषय में मत-भेद है कि वैदिक काल में जाति की व्यवस्था की गई थी या नहीं। कुछ लोग इस पक्ष में हैं कि उसी समय से यह व्यवस्था प्रचलित है और कुछ इसके विरोधी हैं। उनका कहना है कि यह व्यवस्था बाद में हुई। परंतु अधिकांश लोगों की राय में यही आता है कि यह व्यवस्था ऋग्वेद काल से ही आरंभ हो गई थी; और इसका प्रमाण ऋग्वेद के उन मंत्रों में मिलता है जिन्हें पुरुषसूक्त कहते हैं। यद्यपि कहा जाता है कि यह सूक्त भी ऋग्वेद काल के कुछ बाद का है, तथापि उसका आरंभ ऋग्वेद काल के बाद से ही हुआ था, इसमें संदेह नहीं।

प्राचीन संसार का इतिहास देखने से पता चलता है कि

इस प्रकार की कुछ न कुछ सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक विभाग प्राचीन काल में सर्वत्र ही वर्तमान था। कहा जाता है कि प्राचीन ईरानी समाज चार भागों में विभक्त था। इसी प्रकार भारतीय समाज के भी चार भाग थे। परंतु इतना अवश्य था कि ये विभाग ही विभाग थे; ये उस समय तक जाति-व्यवस्था के रूप अथवा जाति-भेद की अवस्था को नहीं पहुँचे थे। सभी समाज, सभ्यता की उन्नतावस्था में प्राप्त होने पर, चार अथवा इससे भी अधिक श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं। अँगरेज समाज ही आज चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है जिनमें हम पादरी (Clergy), बड़े बड़े लार्ड या धनी (Nobles), मध्यम श्रेणी के लोगों (Middle class) और श्रमजीवियों (Labourer) को गिन सकते हैं।

इसी प्रकार भारतीय समाज में भी चार विभाग हो गए थे। इनके अलग अलग कर्त्तव्य और अधिकार थे। अपने अधिकारों का दावा उस समय वे ही करते थे जो अपने कर्त्तव्यों का पालन करते थे। आज की व्यवस्था और उस समय की व्यवस्था में यही भेद था कि उस समय केवल ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय कहने से ही कोई ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय नहीं हो जाता था। उसके अनुसार उसे तपस्या करनी पड़ती थी और अपने कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता था। आज केवल अपने को ब्राह्मण कहने से ही लोग ब्राह्मण समझे जाते हैं। जैसा कि कहा गया है—"एष वै ब्राह्मण ऋषिरार्षेयो

यः शुश्रुवन्" अर्थात् जो विद्वान् है अथवा श्रुत है, वही ब्राह्मण और ऋषि है आदि। इस प्रकार निस्संदेह समाज चार भागों में विभक्त था; और उसमें भी धीरे धीरे ब्राह्मणों का आदर-सम्मान बढ़ता जाता था; क्योंकि समाज में सबसे अधिक त्याग और तपस्या ब्राह्मण ही कर सकते थे और उन्हीं के द्वारा समाज को विशेष लाभ हुआ करता था।

इसके बाद जब हम जातक काल में आते हैं, तब पुनः जाति-व्यवस्था का उल्लेख पाते हैं। परंतु उस समय के सामाजिक अधिकारों में कुछ भेद मालूम होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि उस व्यवस्था में कुछ परिवर्त्तन अवश्य हुआ था। इसका कारण यह है कि जातकों में सामाजिक विभाग के मुख्य क्षत्रिय बनाए गए, ब्राह्मण नहीं। जातकों में क्षत्रिय का नाम सबसे पहले मिलता है और उसके बाद ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र का। कदाचित् इसका कारण यह रहा हो कि भगवान् बुद्ध क्षत्रिय थे; अतः क्षत्रिय जाति ही मुख्य मानी गई। उस समय में क्षत्रिय ही हमारे आध्यात्मिक गुरु हुए। महावीर और बुद्ध आदि क्षत्रिय ही थे। संभव है, इसी कारण समाज-संचालन की बागडोर क्षत्रियों के ही हाथ में रही हो और वे ही सामाजिक संघटन के प्रधान रहे हों। इन क्षत्रिय गुरुओं का धर्म-प्रचार आरंभ हुआ; और ब्राह्मणों के विरोध में ही वह प्रचार हुआ था। वास्तव में इनका धर्म ब्राह्मण धर्म का विद्रोही था। इन्होंने प्राचीन प्रथा के विरुद्ध विद्रोह

किया था। भगवान् बुद्ध ने तो जाति-व्यवस्था के विरुद्ध जोरों की आवाज उठाई। इनका प्रचार बढ़ा, देश में प्रभाव बढ़ा जिससे ब्राह्मण धर्म का ह्रास होने लगा और उनका प्रभाव घटा। इन्हीं कारणों से, संभव है, उस काल में क्षत्रियों को ब्राह्मणों की अपेक्षा उच्च स्थान मिला हो। जो हो, जातकों में समाज की मुख्य श्रेणी में—समाज के उच्च पद पर—पहले क्षत्रियों के आसीन होने का वर्णन मिलता है और उसके बाद ब्राह्मणों आदि का नाम आता है।

परंतु जातक काल में भी इस जाति-व्यवस्था ने वर्त्तमान जाति-बंधन का रूप नहीं धारण किया था। महाशय रिस डेविड्स ने अपने बुद्धिस्ट इंडिया (Budhist India) नामक ग्रंथ में यह दिखलाने की चेष्टा की है कि उस समय में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी अपना कार्य छोड़कर दूसरे वर्णों के कार्य्य कर सकते थे; और उसी कार्य्य के अनुसार अपनी जाति बना सकते थे। जातकों के द्वारा उन्होंने सिद्ध किया है कि ब्राह्मण खेती और गोपालन करते थे, क्षत्रिय व्यापार और नौकरी करते थे। इसी प्रकार वैश्य भी दूसरे कार्य्य कर सकते थे।

वैश्य अपने ही कार्य्यों द्वारा क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण की श्रेणी में पहुँच जाते थे। अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बना लेना और समाज की किसी श्रेणी में मिल जाना प्रत्येक के अधिकार में था। जैसा कि उन्होंने लिखा है—"Poor men could become nobles and both could become Brah-

mins"—अर्थात् गरीब आदमी धनी हो सकता था (अथवा अमी आदमी क्षत्रिय हो सकता था) और वे दोनों ब्राह्मण भी हो सकते थे।' विवाह आदि के विषय में तथा खान पान के संबंध में इन पुस्तकों से बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है। परंतु अपने जन्म का गौरव और जाति का अभिमान धीरे धीरे उस समय—जिस समय जातक बने—अवश्य ही सामाजिक जीवन के एक अंग में सम्मिलित थे। खान पान में कुछ बचाव अवश्य आरंभ हो गया था। जातक की कथाओं से पता चलता है कि एक ब्राह्मण ने एक क्षत्रिय के साथ भोजन कर लिया और फिर उसने अपने किए पर पश्चात्ताप किया*। इसी प्रकार और भी प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि इस प्रकार का जात्यभिमान, किसी न किसी रूप में, धीरे धीरे भारतीय सामाजिक जीवन में प्रचलित हो चला था। विवाह के विषय में ऐसे कई प्रमाण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि वैवाहिक संबंध में अधिक रोक-टोक नहीं थी; और ब्राह्मण लोग किसी क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र तक की कन्या से विवाह कर सकते थे। इस समय तक ब्राह्मणों की पुरोहिती का प्रभाव देश पर नहीं पड़ा था; अर्थात् स्मृति-धर्मों के द्वारा सामाजिक नियम नहीं बने थे। एक श्रेणी को दूसरी श्रेणी से बिल्कुल अलग कर देनेवाले नियम प्रचलित नहीं हुए थे। परंतु फिर भी समाज में इस विषय में लगातार और बहती हुई विचार-

* देखो Budhist India by R. Davids.

धारा में आपस में संघर्ष हुआ करता था और एक दूसरे के विरुद्ध अपने को बलशाली बनाकर सामाजिक नियमों पर अपना प्रभाव जमाने का यत्न अवश्य करती थीं। महाशय रिस डेविड्स ने अपने "बौद्ध भारत" में लिखा है—

"Though the fact of frequent inter-marriage is undoubted, though the great chasm between the proudest Kshatriya on the one hand and the lowest Chandal on the other was hedged over by a number of almost imperceptible stages, and the boundaries between these stages were constantly being overstepped, still there were also real obstacles to unequal unions." इसका भावार्थ यह है कि असवर्ण विवाह की प्रथा निस्संदेह प्रचलित थी। गौरवशाली और अभिमानी क्षत्रियों और नीच से नीच चांडालों के बीच की दूरी तै कर ली जाती थी; अर्थात् कुछ अवस्थाओं में आपस में संबंध स्थापित हो जाया करता था। परंतु फिर भी असवर्ण संबंधों के लिये वास्तविक रुकावटें वर्तमान थीं।

इस प्रकार हमने देखा कि सामाजिक जीवन में इस जाति-व्यवस्था की क्या दशा थी। यद्यपि जातक काल का अन्त उसी समय हो गया था, जिस समय मौर्य काल का आरंभ हुआ था, परन्तु उसी के वर्णन से हम मौर्य्यकालीन जातीय व्यवस्था की स्थिति का भी पता लगा सकते हैं। मौर्य्य काल में भी वही स्थिति रही होगी जो जातकों में वर्णित है।

ब्राह्मणों का प्रभाव देश में अवश्य ही घट रहा था। ब्राह्मण धर्म भी बौद्धों के कारण क्षीण दशा को प्राप्त हो गया था। इस कारण अनुमान होता है कि संभवतः मौर्य्य काल में भी जाति-व्यवस्था का वह कड़ा बंधन, जो स्मृति धर्मों के प्रतिपादन के अनंतर देश में बढ़ा, अवश्य ही ढीला रहा होगा। ब्याह-शादी में भी कोई अधिक बंधन नहीं रहा होगा। चंद्रगुप्त ने स्वयं यूनानी स्त्री से विवाह किया था। चंद्रगुप्त का मंत्री चाणक्य ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था। उसके प्रभाव में रहकर भी चंद्रगुप्त एक यवन स्त्री से शादी करे, यह इस बात का द्योतक है कि अन्य जातियों में विवाह करना प्रचलित रहा होगा। कहा जाता है कि अशोक की ब्राह्मण स्त्रियाँ भी थीं। इन बातों से अनुमान किया जाता है कि कदाचित् वैवाहिक बंधन उस समय में अधिक कठोर नहीं था।

मेगास्थनीज ने भी लिखा है कि लोग कई स्त्रियों से विवाह किया करते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि संभवतः बहुविवाह की भी प्रथा थी। राजाओं या बड़े आदमियों तथा धनियों के कई विवाह करने का वर्णन तो यहीं नहीं, संसार के अन्य अनेक देशों में भी मिलता ही है; परंतु यहाँ एक से अधिक विवाह करना सामाजिक जीवन में प्रचलित था।

मौर्य्यों के काल में चंद्रगुप्त के समय में जो सामाजिक स्थिति थी, उसका जो कुछ पता लगता है, उसका साधन मेगास्थनीज के लेख हैं। उनके द्वारा हमें जो पता चलता

है, उसका वर्णन संक्षेप में किया जा चुका है। अत अशोकीय काल में क्या सामाजिक स्थिति थी, इस पर भी एक दृष्टि डालना आवश्यक है। अशोक-काल की सामाजिक स्थिति का पता पूरी तरह से नहीं लगता। जो कुछ पता लगता है, वह उसके शिलालेखों अथवा अन्य लेखों से ही लगता है।

सामाजिक जीवन में नगर-गाँव की क्या दशा थी, मनुष्यों के आचार-विचार कैसे थे, इन बातों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। वैसी ही दशा अशोक के समय में भी रही होगी। परंतु मौर्य काल में स्त्रियों का समाज में क्या स्थान था और परदे आदि की प्रथा थी या नहीं, इस पर प्रकाश डालना चाहिए। कुछ लोगों को यह भ्रम है कि परदे की प्रथा देश में मुसलमानी काल से आई है। परंतु यह बात बिलकुल निराधार और भ्रामक है। भास और कालिदास के नाटकों से प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है कि उन दिनों भी देश में यह प्रथा विद्यमान थी।

अशोक के समय की जातीय व्यवस्था पर एक दृष्टि डालते हुए डा० भांडारकर महोदय ने अपनी 'अशोक' नामक पुस्तक में यह मत प्रकट किया है--"उस समय में चारों वर्णों की प्रथा चाहे सिद्धांत रूप में, विवादों और बहस-मुबाहसों के लिये रही हो, पर व्यावहारिक रूप में उसका अस्तित्व उस प्रकार से नहीं था जैसा कि बाद में हुआ।" उनका कहना है कि अशोक ने पंचम शिलालेख में धर्ममहामात्यों की नियुक्ति का वर्णन किया है और उन्हें ब्राह्मणों तथा इभ्यों से

संबंध स्थापित रखने का आदेश किया है। उसमें इभ्यों की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि इभ्यों का मतलब, जैसा कि महानारद जातक में आता है, गृहपति है। और "गृहपति" से साधारणतः वैश्य का तात्पर्य होता था। इस प्रकार ब्राह्मणों और वैश्यों का उल्लेख मिलते हुए भी क्षत्रियों के नाम का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इससे डा० साहब यह अर्थ निकालते हैं कि क्षत्रिय का तात्पर्य्य उन दिनों शासक से था, न कि किसी लड़ाकी जाति विशेष से। अतः क्षत्रियों से उस समय उसके संरक्षण में राज्य करनेवाले अथवा उसकी सीमा के पार राज्य करनेवाले शासकों का अर्थ समझा जाता था। इसी प्रकार शूद्रों का भी उन दिनों कोई खास वर्ण वर्तमान नहीं था। वह जाति-विशेष केवल शास्त्रार्थ में कही जाती थी। समाज के चरण अथवा उसके अधो-भाग में बंधन से जकड़े हुए दास अथवा नौकर और मजदूर ही समझे जाते थे जिन पर दया करना अशोक के धर्म का एक मुख्य सिद्धांत था। इस प्रकार डा० भांडारकर महो-दय ने अपना मत प्रकट किया है। वस्तुतः इन विद्वानों के विचारों और अनुसंधानों से इतना तो अवश्य ही माना जा सकता है कि सामाजिक जीवन के संघटन में उतना बंधन उस काल में नहीं था जितना बाद में हुआ।

अशोक के द्वितीय शिलालेख से देश की सामाजिक स्थिति के विषय में एक दूसरी मुख्य बात पर भी प्रकाश पड़ता

है। अशोक कहते हैं कि हमने अपने साम्राज्य के सभी विभागों में बीमार आदमियों और जानवरों की औषध तथा चिकित्सा का अच्छा प्रबंध कर रखा है। अपने साम्राज्य के अंदर तक ही उनका यह प्रबंध परिमित नहीं था, बल्कि उसके बाहर दक्षिण भारत, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत तथा अन्य स्वाधीन राज्यों तक में अशोक ने अपनी ओर से चिकित्सालय खुलवाने का प्रबंध किया था। स्थान स्थान पर जड़ी बूटी, कंद-मूल आदि के, औषधि के काम के लिये, बाग भी लगवाए गए। इस प्रकार उच्चतम सामाजिक अवस्था और सभ्यता इस बात से प्रकट हो जाती है।

इस प्रकार मौर्य काल की सामाजिक दशा पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। लोगों के आचार विचार, रहन-सहन, लोगों की सामाजिक मनोवृत्ति, नगरों और ग्रामों की अवस्था आदि सभी विषयों की साधारण विवेचना हो गई। हम इसके द्वारा देख सकते हैं कि साधारणतः भारतीय सामाजिक अवस्था उन्नत और संतोषप्रद थी। इतना ही नहीं, सामाजिक दशा को सुधारने में और समाज को सुखी करने तथा उसे सहायता देने में मौर्य सम्राट् लोग भी काफी दिलचस्पी लेते थे; और उनके सदुद्योग एवं सद्भाव से देश तथा समाज का बड़ा लाभ होता था और वे उसकी सेवा करके अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे तथा देश के ऋण से मुक्त होते थे।

छठा अध्याय

मौर्य काल में भारत की धार्मिक स्थिति

मौर्य काल की धार्मिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें एक साधन उपलब्ध है और वह है—अशोक के धर्म-लेख। अशोक स्वयं धर्मात्मा था और देश की धार्मिक स्थिति में उसने बहुत कुछ सुधार किए थे। मौर्य काल में अशोक-काल ऐसा काल है जो धर्ममय था। अशोक भारत में ऐसा नरेश हो गया है, जिसने धर्म और राजनीति का मिश्रण कर दिया। अशोक के ही प्रभाव से, उसी के प्रयत्न से, देश में प्रबल शासन था और तीव्र पर साथ ही साथ उदार धार्मिक भावना, त्याग और विरक्ति की धारा देश में प्रवाहित हो रही थी। ऐसी अवस्था में हमें देखना चाहिए कि उस काल में, जिसमें अशोक ऐसा सम्राट् उत्पन्न हुआ था, देश में किस प्रकार की धार्मिक भावना और कैसी धार्मिक दशा वर्त्तमान थी।

भारतीय सभ्यता के प्रथम युग में वैदिक धर्म प्रचलित था, अतएव वैदिक देवताओं की पूजा देश में प्रचलित थी। इंद्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं का तथा कर्मकांड का प्रचार था। यज्ञ के द्वारा बलिदान करना देवताओं की सबसे बड़ी पूजा समझी जाती थी। यह समझा जाता था कि बलिदान के प्रभाव

से ही स्वर्ग और संसार के सुखों की प्राप्ति हो जायगी तथा दैहिक, दैविक आदि विपत्तियों का निवारण हो जायगा। धर्म्म के विषय में वैज्ञानिक विवेचना का आरंभ नहीं हुआ था। धीरे धीरे इस विचार में परिवर्त्तन आरंभ हुआ। जन साधारण के हृदय को केवल बलिदान और धार्मिक अंध-विश्वास-जन्य रीति-रस्मों से ही शांति मिलना कठिन होता गया। उनके विचारों का विकास आरंभ हुआ। बुद्धि पर जोर डालना आरंभ हुआ। बलिदान और इसी प्रकार की अन्य रीतियों के स्थान पर तपस्या की भावना प्रबल हुई।

शरीर पर अपना अधिकार जमाकर, शरीर को कष्ट सहने योग्य बनाकर, बुद्धि के परिमार्जन का सिद्धांत आरंभ हुआ। इसी का विकास धीरे धीरे उपनिषदों में हुआ। उपनिषदों ने केवल शारीरिक कष्ट को ही सिद्धि न मानकर, उसी को धार्मिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्णता की श्रेणी में न रखकर, अपना पग और आगे बढ़ाया और अध्यात्म विषयक गहन से गहन सिद्धांतों पर प्रकाश डाला। आत्मा और पर-मात्मा के संबंध, सृष्टि, जड़-जगत् और परमेश्वर के संबंध, प्रलयादिक सभी विषयों पर अपने विचार प्रकट किए और धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयों में एक क्रांति उत्पन्न कर दी। यह उपनिषदों का समय ही बौद्ध काल के पूर्व का समय है। इन्हीं उपनिषदों के कारण यह बात प्रमाणित हो जाती है कि उस काल में भारतीय आध्यात्मिक तथा धार्मिक जगत् में क्रांति

आरंभ हो गई और मनुष्य के मस्तिष्क के विकास के साथ साथ धीरे धीरे इन बातों का भी विकास आरंभ हो चला था।

जब किसी समाज अथवा देश की सभ्यता का विकास होता है, मनुष्य में शिक्षा और बुद्धि की मात्रा अधिक होने लगती है और उसके मस्तिष्क का विकास होने लगता है, तब आपस में मत-भेद और विश्वास-भेद होना अनिवार्य हो जाता है। इसी नियम के अनुसार जब भारतीयों की बुद्धि आध्यात्मिक जीवन के अंतरतम स्थानों तक प्रवेश करने लगी, तब प्रत्येक के विश्वासों, अनुभवों और मतों में भेद होने लगा। इसके परिणाम स्वरूप उपनिषद काल के कुछ ही दिनों के उपरांत देश के धार्मिक रण-क्षेत्र में कई नेता उतरे और उन्होंने अपनी बुद्धि, अनुभव और विश्वास के अनुसार अपने अपने धर्म का प्रचार करना आरंभ किया।

भारतीय धार्मिक जीवन में यह बात बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है कि सभी लोग अपने अपने मत का प्रदर्शन और प्रचार स्वच्छंदतापूर्वक करें। संसार के इतिहास में यह बात अद्वितीय है जो भारतवर्ष में बहुत ही प्राचीन काल से पाई जाती है। अनेक धार्मिक उपदेशक देश के कोने कोने में घूमा करते थे और अपने शिष्यों के द्वारा अपने मत का प्रचार कराया करते थे। उनके धर्म्म-प्रचार में कोई रोक टोक न थी।

ये लोग सर्वसाधारण के सामने, राजाओं के दरबारों में प्रत्यक्ष रूप से अपने विश्वास और अपने मत प्रकट

करते तथा उन्हें अपना शिष्य बनाने का, अपनी मंडली में मिलाने का, प्रयत्न किया करते थे। यह एक बहुत बड़ी विशेषता भारतीय समाज में थी जो उसकी सभ्यता और उच्चता की द्योतक है।

ईसा के पूर्व की छठी और सातवीं शताब्दी में भारतीय धार्मिक क्षेत्र में परिवर्तन आरंभ हुआ। भारतीय विचार-धारा दूसरे रूप में प्रवाहित हुई। स्वतंत्र होकर बिना रोक टोक के लोगों ने अपने विचार प्रकट करने आरम्भ किए। आपस में मत-भेद था। एक दूसरे का खण्डन करते—एक दूसरे के विरोध में प्रचार करके अपने धर्म की उच्चता और महत्ता दिखलाते। इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में एक प्रकार का संघर्ष आरंभ हुआ जिसके परिणाम स्वरूप देश में भिन्न भिन्न विचारों के आधार पर कई भिन्न भिन्न धर्मों का जन्म हुआ।

इन भिन्न भिन्न धर्मों में भी छः धर्मों या छः धार्मिक विचारों की प्रबलता देश में थी। इनमें भी बौद्ध ग्रंथों के आधार पर आजीवक, जैन, पूर्ण कश्यप, ब्राह्मण और बौद्ध धर्म मुख्य थे जिनका देश में अधिक प्रभाव था। आजीवक धर्म के प्रचारक मक्खली गोशाल, जैन धर्म के प्रचारक महावीर जिन, बौद्ध धर्म के प्रचारक भगवान बुद्ध, ब्राह्मण धर्म के प्रचारक स्वयं कई ब्राह्मण तथा पूर्ण कश्यप मत के प्रचारक पूर्ण कश्यप आदि उस समय के मुख्य धर्मप्रचारक तथा आध्यात्मिक गुरुओं में से थे।

अब हम इस विषय पर विचार करेंगे कि मौर्य काल की धार्मिक स्थिति क्या और कैसी थी। मौर्यकालीन धार्मिक स्थिति पर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अशोक के धार्मिक लेखों से ही प्रकाश पड़ता है। पहले हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि अशोकीय काल में देश में कौन कौन से धर्म विद्यमान थे। अशोक के ही सप्तम स्तंभलेख से पता लगता है कि उसके समय में कई धार्मिक विचार देश में विद्यमान थे जिनमें संघ, ब्राह्मण, आजीवक और निर्गंथ का उल्लेख मुख्य रूप से मिलता है। अशोक ने कहा है कि इनके अतिरिक्त कई धार्मिक विचार देश में वर्तमान हैं; परंतु उनके नाम का उल्लेख न करके उसने यह दिखलाया है कि वे कोई प्रभावशाली नहीं थे और उपर्युक्त धर्म ही मुख्य रूप से प्रचलित थे।

इन चारों के नाम में प्रथम नाम संघ का आया है। इस **संघ** का तात्पर्य बौद्ध धर्म से है। अशोक स्वयं बौद्ध था, इसलिये संघ का नाम उसने सर्वप्रथम रखा है।

निर्गंथ का अभिप्राय निग्रंथों से है जो महावीर के अनुयायी और जैन-धर्मावलंबी थे।

ब्राह्मण प्राचीन ब्राह्मण-धर्मावलंबी थे जिनका प्राचीन धर्म वैदिक काल से ही आरंभ हुआ था।

आजीवक धर्म भी देश में प्रचलित था जिसके प्रचारक और मुख्य गुरु गोसाल थे। ये ब्राह्मण, जैन, बौद्ध आदि सभी विचारों से अपने विचार भिन्न रखते थे।

इस स्तंभ-लेख से ज्ञात होता है कि ये चार धार्मिक विचार अशोक के काल में वर्तमान थे, जिनका देश में प्रभाव था, जिनका काफी प्रचार हो चुका था और जिनके माननेवाले लोग अधिकतर संख्या में समाज में विद्यमान थे।

डा० भांडारकर महोदय ने लिखा है कि सप्तम स्तंभ-लेख में ब्राह्मण के बाद जो आजीवक शब्द आया है, वह ब्राह्मण के ही अंतर्गत है। अर्थात् आजीवकों में दो विभाग थे—एक ब्राह्मण आजीवक और दूसरे अब्राह्मण आजीवक। इसमें उनके मत में अब्राह्मण आजीवक वे थे जो किसी प्रकार अपना संबंध जैन धर्म से भी रखते थे; और ब्राह्मण आजीवक वे थे जो स्वयमेव शुद्ध आजीवक थे और जो पाणिनि द्वारा मस्करिन् अथवा परिव्राजक के नाम से उल्लिखित हैं। इन दो आजीवक विभागों के सिद्धांतों के विषय में उनका कहना है कि वर्तमान समय में उनके भिन्न भिन्न सिद्धांतों की खोज करना कठिन है, कारण कि वे आपस में बेतरह मिल गए हैं। किंतु इसके प्रमाण में उनका कहना है कि बौद्ध ग्रंथों में इन आजीवकों के विषय में कई ऐसी बातें कही गई हैं जो किसी अन्य स्थान की कही हुई बातों के सर्वथा विरुद्ध हैं। उदाहरणत: किसी बौद्ध ग्रंथ में कहा है कि आजीवक मछली खाते थे; और उन्हीं के विषय में दूसरे बौद्ध ग्रंथ में उनके आचार-विचार और तपस्या तथा पवित्रता की बड़ी प्रशंसा की गई है जो नितांत असंगत सी जान पड़ती है। इन्हीं बातों

के कारण उनका मत है कि इनमें दो भाग थे जिनमें ब्राह्मण आजीवक मुख्य थे; और उन्हीं की ओर अशोक के उस स्तंभ-लेख में संकेत है।

संभव है, डा० साहब का यह विचार ठीक हो। पर मेरे विचार में उस स्थान में ब्राह्मण तथा आजीवक के उल्लेख का तात्पर्य ब्राह्मण और आजीवक भिन्न भिन्न दो धर्मों से है। कारण कि उसमें अशोक ने उन धर्मों का उल्लेख किया है जिनका देश में प्रभाव था; और ब्राह्मण धर्म का अवश्यमेव देश में प्रभाव था। उसका प्रमाण भी यह है कि अशोक ने अपने लेखों में जहाँ कहीं ब्राह्मणों के नाम का उल्लेख किया है, वहीं आजीवकों के नाम का भी उल्लेख किया है।

इन्हीं विचारों के कारण हमें यह बात मानने में अधिक सुविधा और संगति प्रतीत होती है कि उस लेख में जो ब्राह्मण आजीवक का नाम लिखा गया है, वह दोनों भिन्न भिन्न धर्मों की मुख्यता दिखलाता है और दोनों के भिन्न अस्तित्व का द्योतक है। जो हो, उक्त अशोकीय धर्मलेख से हमें पता लग जाता है कि कौन कौन से धर्म देश में वर्त्तमान थे और उनका प्रभाव किस प्रकार देश में जमा हुआ था। ये चारों धर्म अशोकीय काल से कम से कम दो सौ या तीन सौ वर्ष पूर्व से ही देश में फैल चुके थे। अशोक के काल में भारतीय धार्मिक जीवन में कर्म के सिद्धांतों का प्रबल प्रभाव वर्तमान था। साधारण मनुष्य सुंदर और पुण्य के कर्म करके ही संतुष्ट

हो जाते थे और उन्हें अपनी धार्मिकता से शांति मिलती थी; तथा उन्हें विश्वास हो जाता था कि अपने कर्मों के ही बल पर हम स्वर्ग जा सकें। कर्मों का त्याग—संन्यास-धारण—त्यागी विरक्त ब्राह्मणों के ही जिम्मे समझा जाता था। परंतु साधारण मनुष्यों का उद्धार पुण्यकर्म से ही होगा, यही विश्वास धार्मिक जीवन में प्रचलित था। यह कर्म का सिद्धांत इस प्रकार देश के धार्मिक जीवन पर अंकित हो गया था कि ईसा के पूर्व की पाँचवीं शताब्दी के बाद से ही न जाने कितने धर्मों ने अपने अपने विशेष सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जिसके द्वारा वे आत्मा के जन्म-मरण के बंधन से छुटकारा प्राप्त करने का उपाय बतलाते थे। परंतु कर्म के प्रबल और शीघ्र समझ में आ जानेवाले सिद्धांत के सामने एक या दो को छोड़ सभी ने नीचा देखा; और जब तक उसको अपने विचारों में सम्मिलित नहीं किया, तब तक वे टिक नहीं सके। इसी प्रकार के बौद्ध, जैन अथवा आजीवक धर्म थे। केवल भक्ति मार्ग को छोड़कर, जिसका उत्थान अशोक के बाद आरंभ हुआ, सभी धर्ममार्गों ने कर्म सिद्धांत का किसी न किसी रूप में प्रतिपादन किया। इस प्रकार हमने देख लिया कि मौर्य्य काल के धार्मिक जीवन में यह एक मुख्य बात थी जिसका सर्व साधारण के विश्वास पर बड़ा प्रभाव था।

अस्तु; ये विचार तो धार्मिक जीवन में प्रचलित थे और इनका प्रभाव भी था, पर इनका संबंध मनुष्य के पार-जीवन से था। भारतीय समाज के सांसारिक जीवन

में कुछ धार्मिक विश्वासों की आवश्यकता पड़ती है जिनके द्वारा सर्वसाधारण को विश्वास होता है कि हम अपनी इहलौकिक विपत्तियाँ दूर कर सकेंगे। अर्थात् सांसारिक सुख के लिये, उत्तम स्वास्थ्य और आनंद के लिये, मनुष्य कुछ धार्मिक कृत्य किया करते थे जिनमें यक्ष, चैत्य, नागादि और गंधर्वों की पूजा, कुछ होम जाप आदि सभी बातें वर्तमान रहती थीं। आज वर्तमान भारत की भी यही दशा है; और अधिकतर देश में, प्राय: सभी समाजों में इस प्रकार के आचार-विचार अब भी प्रचलित हैं। इसी का वर्णन अशोक ने अपने नवम शिलालेख में इस प्रकार किया है—"मनुष्य बीमारी, ब्याह-शादी, पुत्रोत्पत्ति आदि के समय बहुत से भिन्न भिन्न प्रकार के पूजा-पाठ करते हैं। अधिकतर सभी जातियाँ ये कार्य करती हैं।" अशोक के मत में वे बातें व्यर्थ हैं, उनके द्वारा उतना लाभ नहीं हो सकता जितना चाहिए। इसी कारण उसने इस प्रकार के धर्म मंगल मनाने का आदेश किया है जिससे अधिक लाभ हो।

भारतीय समाज में ही क्या, संसार के सभी देशों में जिस धर्म का प्रतिपादक, जिस धर्म का सहायक, राजा होता है, देश में उसका अधिक प्रचार और प्रभाव होता है। इसी विचार से हमें यह देखने की चेष्टा करनी पड़ती है कि मौर्य काल के राजा किस विचार के थे, किस धर्म के माननेवाले थे और उनके कारण धर्म का किस प्रकार प्रचार हुआ।

मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य वंश का प्रथम राजा था, यह बताने की कोई आवश्यकता नहीं। चंद्रगुप्त के सारे जीवन को देखने से ऐसा मालूम होता है कि उसे देश में राजनीतिक शक्ति को केंद्रस्थ करने से अवकाश नहीं मिला। उसका सारा जीवन इसी में लग गया कि वह किसी प्रकार भारतीय साम्राज्य के आसन पर स्थायी रूप से स्थित हो जाय। इस कारण उसने धार्मिक क्षेत्र में कोई कार्य किया होगा, इसका न तो कोई पता है और न अनुमान ही है। वह किस धर्म का माननेवाला था, इसमें भी मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि जैन ग्रंथों के आधार पर वह जैनी सिद्ध होता है। दूसरों का मत है कि वह बौद्ध था। कुछ विद्वानों का मत है कि उसका गुरु चाणक्य था; अतः वह ब्राह्मण-धर्मावलंबी रहा होगा। परंतु इस झगड़े से हमें कोई सरोकार नहीं। हम इतना ही देखते हैं कि उसने देश के धार्मिक जीवन में कोई उल्लेख योग्य कार्य नहीं किया।

बिंदुसार चंद्रगुप्त का पुत्र और मौर्य वंश का दूसरा राजा था। इसके इतिहास के विषय में आज का ऐतिहासिक संसार अंधकारपूर्ण है। इसका सारा इतिहास अनुमान पर स्थित है। इसने धार्मिक जीवन में क्या परिवर्तन किए होंगे, क्या सुधार उपस्थित किए होंगे, इन बातों का कुछ भी पता नहीं लगता। हमें यह भी पता नहीं कि वह किस धर्म का अनुयायी था। अतः हमारे इस काम में उससे कोई

सहायता नहीं मिल सकती; इसलिये उसे यहीं छोड़कर हम आगे बढ़ते हैं।

अब हम महान् सम्राट् अशोक के जीवन पर एक दृष्टि डालेंगे। वह मौर्यवंशीय तृतीय सम्राट् था। उसका जीवन धर्ममय था; अत: उसके द्वारा हमें सहायता मिलेगी और हम इस विषय की विवेचना कर सकेंगे कि उसके द्वारा देश की धार्मिक स्थिति में क्या परिवर्तन हुए, उसने धार्मिक जीवन में किस बात के सुधारने अथवा उत्साहित करने का प्रयत्न किया और किस प्रकार अपने मंतव्य के प्रकटीकरण का प्रयत्न किया।

पहले विद्वानों में इस बात पर मतभेद था कि अशोक कौन धर्मावलंबी था; परंतु अब यह निश्चित सा हो चला है कि वह बौद्ध था। अशोक का इतिहास जानने के लिये और उसके आधार पर देश की दशा जानने के लिये उसके धर्मलेख हमारे सहायक हैं। भाब्रू लेख के प्रकट हो जाने से प्रत्यक्ष हो गया है कि अशोक बुद्ध, धर्म्म और संघ का अनुयायी था।

अन्य विद्वानों के सिवा डा० जे० ई० फ्लीट साहब का मत है—"अशोक ने जो कुछ शिलाओं और स्तंभों पर लिखवाया है, वह अपने कर्मचारियों के लिये लिखवाया है कि वे उसी के अनुसार काम करें। उसने किसी धर्म विशेष के प्रचारार्थ या प्रकाशनार्थ उन लेखों को नहीं लिखवाया* ।"

---

* Asoka by Bhandarkar.

इस कारण लेखों द्वारा उसका बौद्ध होना उनके मत से प्रमाणित नहीं होता। परंतु जो लेख अशोक ने लिखवाए हैं, उनमें प्रत्यक्ष यह आदेश है कि इन बातों को 'केवल राजा अथवा राजकर्मचारी ही नहीं वरन् सारी प्रजा मानने का प्रयत्न करे। ऐसी अवस्था में वे लेख केवल कर्मचारियों ही के लिये थे, यह कहना असंगत है।

अशोक के नैपाल की तराई में प्राप्त लेख द्वारा यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि अशोक अपने अभिषेक के २० वें वर्ष में बुद्ध भगवान् के जन्म-स्थान के दर्शन करने गया था। अशोक ने अपने चतुर्थ शिलालेख में, जो उसके राज्यारोहण के १२वें साल में लिखा गया था, कहा है कि मैंने ३ वर्ष तक बौद्ध उपासक धर्म में अपने को सम्मिलित किया। इससे पता लगता है कि राज्यारोहण के बाद नवें वर्ष में वह बौद्ध हुआ। अशोक नवें वर्ष में बौद्ध हुआ और आठवें वर्ष उसने कलिंग विजय किया। इस बात से यह सिद्ध होता है कि कलिंग-विजय के बाद ही वह बौद्ध-धर्मावलंबी हुआ। ऐसा ज्ञात होता है कि कलिंग युद्ध ही उसके बौद्ध होने का कारण था। उस युद्ध के भयंकर नाश से युद्ध की भीषणता और जघन्यता देखकर, उस दयावान् और महान् नरेश का हृदय द्रवीभूत हो गया तथा उसने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। प्रथम गौण शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि दो वर्ष तक पहले अशोक उपासक था और इसके अनंतर वह संघ में सम्मिलित हुआ। परंतु

इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद हो जाता है; और यह प्रश्न कुछ विचित्र सा भी है कि संघ में सम्मिलित होकर अशोक राजा कैसे बना रहा। संघ में सम्मिलित होने का अर्थ है—गृह त्याग कर, वैराग्य धारण कर भिक्षुओं के रूप में वनवासी होकर रहना। यदि अशोक ने यह रूप धारण किया तो वह राजा कैसे बना रहा, इस प्रश्न पर विचार करना है। कुछ विद्वानों का कहना है कि वह केवल संघ में गया था और उसने उसका निरीक्षण किया था। परंतु चीनी यात्री इत्सिंग का कहना है कि उसने अशोक की मूर्ति बौद्ध भिक्षु के रूप में देखी थी। अतः उसका संघ में किसी रूप में सम्मिलित होना निश्चित है। पर अब यह प्रश्न उठता है कि क्या वह कभी कभी राजा होकर सांसारिक कार्य संपादित करने आया करता था? इस प्रश्न पर स्मिथ साहब ने प्रकाश डालते हुए लिखा है कि बौद्ध संघों में आज्ञा थी कि जब कोई चाहे, संसार में प्रवेश कर ले और पुनः लौटकर संघ में आ जाय। इस बात का उदाहरण उन्होंने एक बौद्ध चीनी सम्राट् से दिया है जिसने भिक्षु और राजा दोनों रूप बारी बारी से धारण किए थे*। संभव है कि यही बात रही हो। परंतु डा० भांडारकर महोदय ने इस विषय में यह मत प्रकट किया है कि बौद्ध संघाराम में भिक्षुगतिकों को स्थान मिलता था। विनय-

* देखो स्मिथ साहब कृत The Early History of India, page 108.

पिटक में भिक्षुगतिक का वर्णन आया है। भिक्षुगतिक वे होते थे जिन्हें भिक्षुओं के साथ संघाराम में रहने की आज्ञा होती थी। यदि अशोक भिक्षुगतिक के रूप में संघ में सम्मिलित हुआ होगा, तो संघ में रहकर राजकाज करने और न करने का प्रश्न नहीं खड़ा हो सकता। वह न तो उपासक कहा जा सकता है न भिक्षु; क्योंकि न तो वह गृहस्थ था और न पूर्ण संन्यासी। परंतु भिक्षुगतिक का यह भी अर्थ हो सकता है कि जो भिक्षु होने की तैयारी कर रहा हो। इस प्रकार वह राजकाज भी कर लेता था और भिक्षु के समान वस्त्र भी पहन सकता था।

इस प्रकार हमने यह देख लिया कि अशोक अपने राज्यारोहण के अष्टम वर्ष में बौद्ध उपासक हुआ और इसी काल में उसने कलिंग-विजय भी किया था। ढाई वर्ष तक वह गृहस्थी में रहकर बौद्ध धर्म मानता हुआ उपासक बना रहा। इस समय तक धर्म का प्रचार करने और उसका प्रभाव जमाने के लिये उसने कोई परिश्रम नहीं किया। इसके उपरांत दसवें वर्ष में वह भिक्षुगतिक की श्रेणी में गया और साथ ही साथ वह राजकार्य का भी संचालन करता रहा। भिक्षुगतिक हो जाने पर उसने सांसारिक भोग-विलास से अपना मन बहुत कुछ मोड़ लिया और तीर्थ-यात्राओं तथा धर्म-यात्राओं में मन लगाया। इसमें पहली यात्रा उसने 'बोधि-वृक्ष' के दर्शनार्थ की थी। तभी से धर्म-प्रचार और धर्मोत्थान के लिये

उसके हृदय में ऐसी प्रबल इच्छा उठी और इस प्रकार से उसने कार्य आरंभ किया कि उसी से उसे समय नहीं मिलने लगा। वस्तुतः वह दिन-रात धार्मिक कार्य में ही लगा रहता था।

अशोक का "धम्म" (धर्म)

अशोक ने अपनी प्रजा के सांसारिक आनंद के लिये, उसके दैहिक तथा भौतिक सुखों की वृद्धि के लिये, बड़ा प्रयत्न किया था। परंतु ऐसा करना तो राजा का धर्म होता ही है। अशोक में जो विशेषता थी और जिसके कारण वह संसार के सम्राटों में अपूर्व हुआ, वह यह था कि जहाँ उसने अपनी प्रजा के इहलौकिक सुख का वर्धन करने की चेष्टा की, वहाँ उसने उनके पारलौकिक सुखों की ओर भी पर्य्याप्त ध्यान दिया। प्रजा की आध्यात्मिक उन्नति के लिये ही उसने धर्मप्रचार की नीति ग्रहण की और केवल अपने साम्राज्य में ही नहीं वरन् अपने देश के बाहर भी उसने प्रचार का प्रयत्न किया। अब हम इस बात की विवेचना करने का यत्न करेंगे कि अशोक के धर्म की व्याख्या, उसके विचार से, क्या हो सकती है। अपने धर्म की व्याख्या में उसने स्पष्ट प्रकट कर दिया है कि वह धर्म का क्या अर्थ समझता था और उसकी उन्नति के लिये, धार्मिक बनने के लिये, किन किन कार्यों का करना आवश्यक समझता था।

अपने द्वितीय और सप्तम स्तंभलेख में वह उन गुणों और कर्मों का वर्णन करता है जिनके आधार पर धर्म की नींव

रखी जाती है। अशोक के विचार से धर्म का अर्थ बहुत से अच्छे कार्यों का करना, पापों से दूर रहना, दया, दान, सत्य और शौच आदि बातों का पालन करना है। यही वे बातें हैं जिन्हें संपादित करना धर्म करना है। परंतु प्रश्न यह उठता है कि किन उपायों द्वारा, किन साधनों द्वारा, ये बातें व्यवहार में लाई जा सकती हैं। इसका भी उत्तर अशोक ने दिया है। उसने बतलाया है कि इन्हीं मार्गों पर चलने से मनुष्य उन बातों का पालन कर सकेगा जो धर्म कही जाती हैं। इन साधनों का उल्लेख अशोक ने भिन्न भिन्न लेखों में किया है जिनका संकलन इस प्रकार किया जा सकता है (१) अनारागे प्रानानाम्—अर्थात्, जीवित प्राणियों का अवध; (२) अविहिंसा भूतानाम्—किसी प्राणी को, जिसका अस्तित्व हो, क्षति न पहुँचाना; (३) मातृ-पितृशुश्रूषा—माता पिता की सेवा; (४) गुरुनाम अपसिति—गुरुओं और बड़ों का आदर-सम्मान; (५) मित संस्तुत नतिकां-तम्, बहमन् शमनानाम् दानम् संपत्ति अर्थात् मित्र, संबंधी, ब्राह्मण, श्रमणादिकों के प्रति उदारता तथा आदर का व्यवहार करना; (६) दास भतराही संभ्यप्रतिपति अर्थात् दास, नौकर चाकर आदि के प्रति भी दया तथा उदारता रखना। ये ही अशोक के वे साधन हैं जिनके द्वारा मनुष्य धार्मिक सत्यों का पालन करता है। उसने त्रयोदश शिलालेख में एक स्थान पर अपव्ययता का भी वर्णन किया है; अर्थात् अल्पव्यय और अल्प संग्रह का भी आदेश दिया है। यही अशोक

का संसार को दिया हुआ संदेश है जो प्रत्येक समय में और प्रत्येक धर्म में सर्वदा से सत्य रूप में विराजमान है। इन्हीं आदेशों को और इन्हीं बातों को उसने बार बार अपने लेखों में लिपि-बद्ध कराया है। ये संदेश उसे इतने प्रिय थे--उसके हृदय पर इस प्रकार अंकित थे--कि इन पर उसने बार बार जोर दिया है और इसी कारण इनको बार बार अपने लेख में दुहराया है।

अपने सारे जीवन को—देश के धार्मिक जीवन को—अशोक ने धर्म के इन्हीं तत्त्वों के ढाँचे में ढालने की चेष्टा की। उसने इस बात का प्रयत्न किया कि देश के, समाज के, सारे जीवन को, सब बातों को वह धर्ममय कर दे। इसी विचार से नवम शिलालेख में उसने कहा है कि ब्याह-शादी, पुत्रोत्पत्ति, यात्रा आदि के समय में लोग पूजापाठ मंगलादिक करते हैं। उसने कहा है कि इनसे कोई लाभ नहीं होता; मनुष्यों को चाहिए कि वे धर्म मंगल मनावें; इसी से उनका इहलोक तथा परलोक दोनों सुधरेंगे। इसी प्रकार एकादश शिलालेख में दान के विषय में लिखते हुए वह कहता है कि धर्म-दान सर्वोत्तम है। त्रयोदश शिलालेख में अशोक ने धर्म-विजय को ही संसार भर में सबसे बड़ी विजय बतलाया है। इसी प्रसंग में उसने कलिंग-विजय का उल्लेख किया है और लिखा है कि मुझे इस बात का दुःख हुआ कि मेरे कारण कितने व्यक्तियों को कष्ट और क्षति पहुँची। उसके लेख से यह

ध्वनित होता है कि इस घटना से उसके हृदय को बड़ा कष्ट पहुँचा। अपने कर्म पर उसे कुछ लज्जा तथा पश्चात्ताप भी हुआ; और इसी कारण उसने इस प्रकार की विजय की प्रथा का विरोध किया और धर्म-विजय करने का आदेश दिया।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अशोक ने समस्त सांसारिक प्रवृत्तियों को धार्मिक भावना में परिणत करने की चेष्टा की और देश के जीवन को धर्ममय बनाना चाहा। अशोक के धर्म और सिद्धांतों पर विचार करने से यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि उसके आदेश बिलकुल साधारण हैं। उसके धार्मिक सिद्धांत संसार भर के धर्मों की सँपत्ति हो सकते हैं। उसके आदेश और उनके पालन करने के लिये जो साधन उसने बताए हैं, वे सभी धर्मों में समान रूप में वर्तमान हैं और संसार के सभी धर्मों का आधार और नींव उन्हीं बातों पर वर्तमान हैं। जो कुछ उसने बताया, जिनका उसने धर्म-रूप में प्रचार किया, वे सिद्धांत संसार के सम्मुख नवीन अथवा अपरिचित सिद्धांत नहीं हैं। मानव प्रकृति में सद्भावना का जो अंश वर्तमान है, उसी के वे मुख्य अंग हैं।

इन्हीं विचारों को अशोक स्वयं मानता था। उसने सप्तम शिलालेख में अपने इस भाव का प्रदर्शन इन शब्दों में किया है— "सभी धर्म एक ही स्थान तथा समय में रह सकते हैं; क्योंकि आत्मनिरोध, शौच तथा हृदय की शुद्धि सब का आधार है।" आत्मशुद्धि और शुद्धहृदयता पर उसने इतना जोर

दिया है कि उसका कहना है—"भिन्न भिन्न विचार और विश्वास के होते हुए भी आत्मनिरोध और हृदय के शुद्ध रखने का सतत प्रयत्न करना चाहिए; और जो मनुष्य इतना भी नहीं कर सकता, उससे अधिक पतित और कोई नहीं हो सकता।" इस प्रकार मानव प्रकृति में इन दो बातों की उन्नति करने का अशोक ने यत्न किया और प्रत्येक व्यक्ति को, समाज के कोने कोने के मनुष्यों को, उसका यह आदेश था कि इन दो बातों का ध्यान रखें और इन गुणों का अपने में समावेश करें जो सभी धर्मों में स्वयं वर्त्तमान हैं। सभी धर्मों का मूल एक ही है, यह बात सभी बुद्धिमान् तथा धार्मिक मनुष्य मानते हैं। अशोक स्वयं इसी विचार का समर्थक था। इसका प्रमाण उसका त्रयोदश शिलालेख है जिसमें उसने लिखा है कि जो मनुष्य अपने धर्म की बड़ाई करता है और दूसरे के धर्म्म की निंदा करता है, वह वास्तव में अपने ही धर्म को भयंकर हानि कर डालता है। इसी लिये उसने आदेश दिया है कि प्रत्येक धार्मिक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि जहाँ वह अपने धर्म का पालन करता है, वहाँ उसे दूसरे के धर्म का सम्मान भी करना चाहिए। यह भाव बड़ा उदार है—इसमें धार्मिक सहिष्णुता और सभ्यता की पराकाष्ठा है। यह भाव देश में वास्तविक धार्मिकता का प्रचारक था और भारतीय आर्य सभ्यता की उच्चता का प्रमाण था। प्रत्येक धर्म के सर्वदा दो अंग होते हैं—एक धार्मिक सिद्धांत और उस पर के विश्वास; और

दूसरा धार्मिक नीति वा उसका नैतिक अंग। जहाँ किसी धर्म का संबंध अन्य धार्मिक विश्वासों अथवा उसके सिद्धांतों से रहता है, वहाँ आपस में मतभेद होना अनिवार्य है। कारण कि मनुष्यों के विचार भिन्न भिन्न हैं। परंतु जहाँ किसी धर्म का संबंध आपस के आचार व्यवहारों अथवा नैतिक विचारों से होता है, वहाँ भिन्नता और भेद का लोप हो जाता है। नैतिक आचार और नैतिक गुण सभी धर्मों में समान रूप से वर्तमान हैं। इसका कारण यह है कि आत्मा के सत्-असत् के भेद करने में, भले बुरे के विषय में, दो मत नहीं होते। इस विषय में मानव प्रकृति समान रूप से सृष्टि में वर्तमान है। इसी कारण धर्म का जो नैतिक अंग है, वह सर्वसाधारण की संपत्ति होती है और सभी धर्मों में समान रूप से व्याप्त है। वास्तव में सब धर्मों का सार यही है और इसे ही अशोक ने अपने धार्मिक प्रचार का आधार बनाया और इसी को लेकर धर्म्म-प्रचार में मन लगाया। धर्मांधता और कट्टरपन का विरोध अशोक ने इसी प्रकार किया। इससे हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि उस काल में जो धर्म्म देश में वर्तमान थे, उनमें आपस में गहरा विवाद होता था, जिसका निवारण अशोक ने इस प्रकार से करना चाहा; और उन मनुष्यों को, जो एक दूसरे के धर्म का खंडन बुरी तरह किया करते थे, उसने यह समझाया कि इससे तुम्हारी ही हानि है। इसी धार्मिक सद्भावना का प्रचार करने का भार धर्ममहामात्यों पर था,

जिनके लिये अशोक ने लिखा है कि एक धर्म्म से दूसरे धर्म के विवाद और परस्पर के झगड़े दूर करने के लिये धर्ममहामात्य नियुक्त किए गए हैं। इन धर्म्ममहामात्यों को उसने आदेश किया था कि वे ब्राह्मण, आजीवक, जैन और बौद्ध धर्मावलंबियों से मिला करें। इससे यह पूर्णरूपेण प्रकट हो जाता है कि ये ही धर्म देश में मुख्य रूप से वर्तमान थे और इन्हीं में आपस में भयंकर मतभेद और खींचातानी होती थी; और इसी कारण उसने इन धर्मों के अनुयायियों से मिलने का उन्हें आदेश किया था।

उसने प्रचार कराया कि मनुष्यों को चाहिए कि एक दूसरे के धर्म की बातें शांति और आदर से सुनें। इससे उसका यह तात्पर्य मालूम होता है कि लोग एक दूसरे की बात सुनकर यह देखें कि वास्तव में धार्मिक तत्त्वों में बहुत कम अंतर है और उन्हें एक दूसरे के प्रति सद्भाव रखने की इच्छा हो। और इसी उपाय के द्वारा, इसी साधन से, उसने धर्मान्धता और कट्टरपन को हटाकर धार्मिक दृष्टिकोण की सीमा को और भी विकसित तथा विस्तृत करके संसार का कल्याण करने की स्वयं चेष्टा की और संसार के सामने यह तत्त्व रख दिया कि इसी से संसार का कल्याण हो सकता है।

धार्मिक सहिष्णुता के संबंध में अशोक का जो विचार था, वह ऊपर बतलाया जा चुका है। इस विषय में कोई विवाद नहीं रह गया कि, बौद्ध होते हुए भी अशोक अन्य

धर्मों का आदर तथा सम्मान किया करता था। प्रत्येक धर्म की रक्षा करना, प्रत्येक के सुख की वृद्धि करना, वह अपना धर्म समझता था। इसी धार्मिक सहिष्णुता के कारण उसने आजीवकों को 'बराबर गुफा' दान में दी थी जिसका उल्लेख उसने अपने लेख में किया है। ब्राह्मणों, श्रमणों आदि सबका सम्मान करने का आदेश उसने प्रजा को दिया था। इन बातों से देश में सहिष्णुता की भावना का रहना प्रकट होता है। धर्म के विषय में थोड़ी सी कठोरता अशोक ने यही की थी कि उसने जीव-वध रोक देने की आज्ञा दी थी। पर यह बात अशोक ऐसे दयावान् और कोमल-हृदय राजा के लिये स्वाभाविक ही थी।

हमने संक्षेप में देख लिया कि देश में कौन कौन से मुख्य धर्म प्रचलित थे, देश का धार्मिक जीवन कैसा था, अशोक किस धर्म का प्रचार आरंभ किया और उसका धैर्य कैसा था। अब हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि अशोक ने धर्मप्रचार करने के लिये कौन कौन से साधन प्रस्तुत किए थे।

अशोक ढाई व तक उपासक रहा; इसके अनंतर वह धार्मिक बातों पर अधिक ध्यान देने लगा। यह बात उसी के लेख से प्रकट होती है। अपने राज्याभिषेक के १२ वें वर्ष से वह इस बात की चेष्टा करने लगा कि धर्म का प्रचार बढ़े; और उसने इसी लिये शिलालेखादि का लिखवाना प्रारंभ किया। अतः अब यह प्रत्यक्ष है कि धर्म का प्रचार उसने अपने राज्य के

बारहवें वर्ष से आरंभ किया था। अशोक ने हमें यह सूचित किया है कि वह धर्म के प्रचार के लिये अपनी प्रजा के भिन्न भिन्न देवताओं के रूप, उनकी सुख-सामग्री और उनके भोग-विलास आदि की बातों को कौतुक करके नाटक या तमाशे आदि के रूप में दिखलाता था। इस प्रकार के क्रीड़ा-कौतुक से दो बातों का लाभ होता था। एक तो प्रजा का मनोरंजन होता था; दूसरी बात यह थी कि सर्वसाधारण के मन पर इन बातों का बड़ा प्रभाव पड़ता था। देवताओं की सुख-सामग्री देखकर लोगों को स्वर्ग आदि का अनुमान होता था जिसे प्राप्त करना उनके हाथों में था, यदि वे धर्म का पालन करते। अत: जब साधारणत: लोगों के मस्तिष्क में स्वर्ग आदि के सुख दु:ख की बात इस प्रकार भरी जाती थी और उन्हें यह समझाया जाता था कि यह धर्मपालन करने का फल है जो सभी को मिल सकता है, तो अवश्य उस बात का प्रचार बढ़ता था और स्वभावत: लोगों की प्रवृत्ति धर्म की ओर होती थी। इस प्रकार अशोक ने यह एक उपाय निकाल रखा था जिसके द्वारा उसके धर्मप्रचार में सहायता पहुँचती थी और वह देश में धर्म भाव की वृद्धि करने में सफल होता था।

अशोक ने अपने अष्टम् शिलालेख में लिखा है कि वह पहले विहार-यात्रा को जाया करता था। अब विहार-यात्रा के स्थान पर उसने धर्म-यात्रा करना आरंभ किया है; और उस धर्म-यात्रा में श्रमणों, ब्राह्मणों, साधुओं आदि से मिलना और उन्हें

दान देना, तीर्थस्थानों के दर्शन करना (जैसे बुद्ध ने स्वयं बोधि-वृक्ष के दर्शन किए थे और उसकी मरम्मत कराई थी) तथा प्रांतों और प्रदेशों में धर्म के विषय में जाँच करना, उसके प्रचार आदि के लिये तथा धर्मोपदेश करने का यत्न करना, आदि कार्य सम्मिलित हैं। इस प्रकार ब्राह्मणों और श्रमणों आदि से मिलकर वह सब धर्मों की बातें जानने की चेष्टा करता था। साथ ही इस धर्म-यात्रा के कारण वह स्वयं लोगों से मिल सकता था, उन्हें धर्मोपदेश कर सकता था और अपने धार्मिक भावों का प्रदर्शन कर सकता था। यह उसके स्वयं धर्मप्रचारक होने का प्रमाण है। इस धर्म-यात्रा का कार्य भी उसने अपने राज्यकाल के ११ वें वर्ष में आरंभ किया था। यदि ध्यान से देखा जाय तो मालूम होगा कि यह धर्मयात्रा उसने उस काल के बाद आरंभ की जब वह बौद्ध संघ में भिक्षुगतिक की श्रेणी में सम्मिलित हो चुका था। अतः अब बौद्ध भिक्षुओं का कार्य था—अपने धर्म का घूम घूमकर प्रचार करना। संभव है कि धर्म-यात्रा में अशोक अपने इसी कर्तव्य की पूर्ति करता रहा हो और स्वयमेव जाकर तीर्थस्थानों के दर्शन कर और लोगों से मिल जुलकर उनमें धर्म-प्रचार के हेतु धर्मोपदेश करता रहा हो। यदि यह बात सत्य मान ली जाय तो उसके धर्म-प्रचार का यह भी एक साधन था। यदि इस प्रकार अशोक ने धर्मप्रचार किया हो, तो जनता पर इसका बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ा होगा। जब लोगों ने देखा होगा कि परम बलवान्, ऐश्वर्यशाली, सारे

भारतीय साम्राज्य का अधिपति और शासक, भिक्षुओं के साथ तीर्थों के दर्शन करता है और धर्म के मार्ग में उपदेश करता हुआ धर्म के लिये फकीर सा बन गया है, तो स्वभावतः लोगों के हृदय में उस धर्म के विषय में सहानुभूति और सहायता का भाव उठा होगा, लोगों ने उसकी बातों और विचारों पर ध्यान दिया होगा और उसकी बातें अधिक मान में मानना प्रारंभ किया होगा। ऐसी अवस्था में उसके धर्म के प्रचारक होने में किसको संदेह हो सकता है!

इस प्रकार अशोक ने स्वयमेव अपने व्यक्तित्व का ही उदाहरण लोगों के सम्मुख रखा और इस बात का यत्न किया कि वह स्वयं धर्मप्रचारक हो सके। पर एक अकेला अशोक सारे देश में घूम घूमकर धर्म का प्रचार कर सके और देश के कोने कोने में अपना संदेश पहुँचा सके, यह कैसे संभव था? इस कारण उसने सोचा कि धर्मप्रचार करने के लिये यदि वह इस बात का प्रयत्न कर सके कि उसके दूर दूर के प्रदेशों, प्रांतों और जिलों आदि के राज-पदाधिकारी उसके कार्य्य में योग दे सकें, धर्म-प्रचार का कार्य्य उठा लें, तो मुझे इस कार्य्य में बड़ी सहायता मिल सकती है, मेरा उद्देश्य पूरा हो सकता है और उस कार्य्य में सफलता भी मिल सकती है; क्योंकि राजा के बाद उसके बड़े बड़े कर्मचारियों और पदाधिकारियों का प्रभाव देश में होना स्वाभाविक और अवश्यंभावी है। इसी विचार को लेकर उसने अपने पदाधिकारियों द्वारा धर्मप्रचार कराने की एक

योजना बनाई थी। जिस मनुष्य को जिस बात की लगन होती है, उसका वह कोई न कोई उपाय ढूँढ़ ही निकालता है। अशोक के मस्तिष्क में धर्मप्रचार की प्रबल भावना जाग्रत हो चुकी थी। यह भाव उसने अपने राज्यकाल के २७वें वर्ष में स्थापित किए हुए सप्तम स्तंभ-लेख में प्रदर्शित किया है। उसमें उसने बतलाया है—"पूर्ववर्ती राजाओं ने धर्मप्रचार का यत्न किया, पर वे सफल नहीं हुए; अतः अब उसे सफल बनाने के लिये हम धर्मश्रवण और धर्मानुसम्मति का प्रबंध करेंगे।" इस धर्म्म अनुसम्मति के लिये उसने जो प्रबंध किया, उसका पता हमें उसी लेख से चलता है। उसने कहा है कि मेरे पदाधिकारी—राजुक—जो सैकड़ों अथवा हजारों मनुष्यों पर शासन करते हैं, इस बात के लिये अनुशासित हुए हैं कि वे लोगों में धर्मप्रचार का कार्य्य करें। तृतीय शिलालेख में भी हमें इस विषय की कुछ बातें मिलती हैं। उससे यह बात प्रकट होती है कि केवल राजुक ही नहीं बल्कि उसके अन्य कर्मचारी—युक्त तथा प्रादेशिक नामवाले भी—धर्मप्रचार करने के लिये अनुशासित हुए थे। ये कर्मचारी, जैसा कि हम पहले लिख आए हैं, ऊँचे पद पर अवस्थित थे। इनके उत्तरदायित्व में ऐसे कार्य थे जिनमें इन्हें घूमना पड़ता था। अपने शासन के कार्य्यों के साथ ही साथ उनके जिम्मे धर्मप्रचार करने का भी कार्य्य था। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि उसके उच्च पदाधिकारी केवल पदाधिकारी ही नहीं थे जो शासन करते थे, किन्तु धार्मिक गुरु भी होते थे।

अशोक का यह कार्य अद्वितीय था। जिस देश के राजा और पदाधिकारी, सभी सच्चे धर्मज्ञाता और धर्मप्रचारक हों, उस देश के शासन और न्याय की व्यवस्था की क्या दशा रही होगी, इसका पता हम बहुत सहज में लगा सकते हैं। उस देश में शासन के साथ साथ न्याय और सत्य की वृद्धि पूर्ण रूप से हुई होगी। आज जिस सिद्धांत को हम असंभव तथा अव्यवहार्य्य कहकर छोड़ देते हैं कि धर्म और राजनीति एक साथ नहीं चल सकती, उसे अशोक ने प्रत्यक्ष करके दिखला दिया। यदि यह बात प्रामाणिक है, यदि इसे हम सत्य मान सकते हैं, यदि इसे हम विचार और बुद्धि के अनुसार ठीक समझ सकें तो संदेह नहीं हो सकता कि इसके द्वारा अशोक ने राजनीति को भी धर्ममय कर डाला था। धर्मप्रचार के अत्यंत बढ़ने का यह भी एक बहुत बड़ा कारण हो सकता था कि देश के कर्मचारी और पदाधिकारी अपने कर्तव्यों को इस प्रकार न्याय और धर्म के साथ पूरा करते रहे होंगे कि प्रजा सुखी और समुन्नत रही होगी। प्रजा देश के शासकों से संतुष्ट और प्रसन्न रही होगी जिसके फल स्वरूप वह उनकी बात सुनती रही होगी; और इस प्रकार अशोक के धर्मप्रचार की योजना और उसके प्रचार की प्रबल इच्छा बहुत बड़े अंश में पूरी होती रही होगी। यह योजना अशोक की अपनी सूझ थी।

चौथा साधन जो अशोक ने धर्म-प्रचार और देश के जीवन को धर्ममय बनाने के लिये निकाला, वह धर्ममहा-

मात्यों की नियुक्ति है। इन धर्ममहामात्यों का पहला कर्तव्य यह था, जैसा कि अशोक ने बतलाया है, कि वे प्रजा के आध्यात्मिक जीवन की उन्नति करें। इसके लिये ये धर्ममहामात्य स्वयं प्रचार किया करते थे और देश में इस तत्त्व के प्रचार का प्रयत्न किया करते थे कि धर्म ही से मनुष्य आगे सुखी हो सकता है। उस समय, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, आजीवक आदि मुख्य मुख्य धर्मों के सिद्धांतों में भेद होने के कारण भिन्न भिन्न धर्मावलंबियों का आपस में व्यर्थ का संघर्ष और वाद-विवाद हो जाया करता था। इन व्यर्थ के विवादों से सर्वसाधारण के धार्मिक जीवन में कोई सुधार नहीं हो सकता था। इस दोष को दूर करके देश में साधारण धर्म का प्रचार करने का काम इन्हीं महामात्यों के अधीन था। ये इस बात का प्रचार करते थे कि संसार के धर्मों का नैतिक अंग, जिसके द्वारा मनुष्य के जीवन का सुधार और उद्धार हो सकता है, सर्वत्र और सर्वथा समान है। बिना इस प्रकार के प्रचार के उस साधारण धर्म का भाव देश में नहीं उत्पन्न हो सकता था जिससे जीवन सुधर सकता और जिसका प्रचार करने की उत्कट इच्छा अशोक की थी। कारण यह है कि इस प्रकार के व्यर्थ के विवादों से धर्म का मुख्य अंग, जिससे साधारण से साधारण मनुष्य का भी संबंध होता है, मनुष्य के दृष्टिकोण से निकल जाता है और उन बातों का धार्मिक जीवन में गौण स्थान हो जाता है, जब कि वास्तव में वे ही मुख्य हैं।

इन महामात्यों के जिम्मे अशोक ने यह काम भी कर रखा था कि वे धार्मिक कार्यों के लिये दी हुई संपत्ति का सदुपयोग करें तथा उसका प्रबंध उत्तम रीति से करें। साथ ही उसका यह भी आदेश था कि वे महामात्य अशोक के संबंधियों तथा उसके खास कुटुंबियों को भी इस बात के लिये उत्साहित करें कि वे ऐसे कार्य्य करें जैसे अशोक ने किए हैं; अर्थात् धर्म के कार्य्यों के लिये, प्रजा और सर्वसाधारण के उपकार के लिये, दानादि किया करें। अशोक ने स्वयं ही सड़कों के किनारे वृक्ष, कूप, जलाशय आदि का प्रबंध कराया था और मनुष्यों तथा पशुओं के लिये औषध का प्रबंध कराया था वह चाहता था कि अन्य लोग भी यही बातें करें; और इन्हीं बातों का प्रचार करने तथा कराने के लिये अशोक की आज्ञा उसके महामात्यों को थी। ये महामात्य इन कार्य्यों के संपादन के लिये जहाँ उसके कुटुंबियों और संबंधियों में प्रचार करते थे, वहाँ अन्य स्वतंत्र राज्यों को भी उत्साहित करते थे। इस प्रकार विचारपूर्वक देखने से इन महामात्यों के जिम्मे यह काम मालूम होता है कि जहाँ वे धार्मिक प्रचार करें, वहीं धार्मिक बातों को मनवाने और उन्हें कार्य्य रूप में परिणत कराने की चेष्टा भी करें। अतः ये 'धर्ममहामात्य भी उसके धर्मप्रचार के एक साधन थे। धर्मप्रचार के साधनों के विषय में उसने जो सबसे मुख्य साधन, मेरे विचार में, कार्यान्वित किया, वह स्तंभों और शिलाओं के ऊपर लिखवाए

हुए उसके धार्मिक लेख हैं। सप्तम स्तंभलेख में उसने यह उल्लेख किया है कि उसने "धर्मस्तंभ" स्थापित किए। इन धर्म-स्तंभों से भी यही तात्पर्य है कि उस पर उसने अपने धर्मोपदेश तथा धार्मिक विचार अंकित करवाए होंगे। इनके स्थापित कराने और इतने परिश्रम से इन्हें खड़ा करने का जो उसका उद्देश्य था, वह मुख्यतः यही था कि मेरे धर्म का प्रचार हो; और इसके साथ ही साथ मेरे वंशज या मेरे बाद भविष्य में आनेवाले लोग इसे देख सकें और यह धर्मप्रचार का कार्य इसी प्रकार जारी रख सकें। यह धर्मप्रचार करने और धार्मिक भावना को देश में भरने के विषय में उसकी अटल और प्रबल इच्छा का द्योतक है। अशोक ने इस धर्म का प्रचार देश में इसी प्रकार किया। इससे समाज और देश के धार्मिक जीवन में बहुत कुछ सुधार हुआ। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि देश में धर्म-भावना जाग्रत हुई और लोगों की प्रवृत्ति धर्म की ओर हुई।

संक्षेप में हमें यह भी देखना चाहिए कि हमारे देश के धर्म ने संसार पर क्या प्रभाव डाला। देश में जितने धर्म वर्तमान थे, उनमें केवल बौद्ध धर्म्म के अनुयायी ही ऐसे थे जो विदेशों में भी प्रचार किया करते थे। बौद्ध ग्रंथों से हमें इस बात का प्रमाण मिलता है कि अशोक के समय में कुछ बौद्ध भिक्षु ऐसे थे जिन्होंने धर्म-प्रचार का कार्य केवल अपने देश में ही नहीं किया, वरंच संसार के अन्य भागों में भी

वे अपने संदेश लेकर गए थे। दीपवंश और महावंश आदि ग्रंथों से यह प्रमाण मिलता है कि मोग्गली पुत्त तिस्सा* की अधीनता में कुछ भिक्षु कार्य करते थे जिनको उन्होंने पश्चिमीय भारत के प्रांतों में धर्मप्रचारार्थ भेजा था। बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ इन लोगों के गांधार आदि प्रांतों को पार कर के आगे जाने का उल्लेख हमें मिलता है। दक्षिण में सुवर्ण-भूमि और लंका तक धर्मप्रचारकों के जाने का हाल मिलता है। इससे हम यह समझ सकते हैं कि मौर्य काल में बौद्ध धर्म के प्रचारक दूर देशों तक में भी धर्म का प्रचार किया करते थे। यह भाव उस समय हमारे देश में वर्त्तमान था कि दूर दूर तक जाकर अपना सँदेसा सुनाना चाहिए। इसी का यह फल था कि पश्चिमीय एशिया और चीन आदि तक में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। आज हमारे देश में इस बात की बड़ी कमी है। इसके लिये न तो हममें उत्साह है और न इसके अनुकूल हम वायुमण्डल बनाते हैं; और परिणामतः हमारी अवनति हो रही है। हम हर तरह से अधोगति की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

विदेशों में धर्मप्रचार का कार्य अशोक ने भी किया था। त्रयोदश शिलालेख में अशोक ने यह बतलाया है कि केवल साम्राज्य के भीतर ही नहीं वरंच उसके बाहर भी सीमा के निकटस्थ स्वतंत्र देशों में धर्म का प्रचार हुआ था। यूनानी

* Asoka by Dr. Bhandarker, p. 166.

राजाओं के अधीन देशों में, सीरिया, मिस्र, मेसिडोनिया, सीरीन आदि स्थानों में अशोक ने अपने धर्मप्रचारक भेजे थे। अपने उसी लेख में अशोक ने लिखा है—"जिन राज्यों में मेरे धर्मप्रचारक नहीं पहुँचे हैं, वहाँ के लोग भी धर्म को सुनकर, धर्म की शिक्षा सुनकर, उसका पालन करने की चेष्टा करते हैं।" डा० भाण्डारकर ने इन स्थानों के लिये चीन और ब्रह्म देश का नामोल्लेख किया है।

अशोक के इस प्रकार के भारतीयों द्वारा धर्म-प्रचार की बात पर कुछ विद्वानों को संदेह होता है। उनके विचार में यह बात नहीं आती कि भारतीय नरेश और भारतीय मनुष्य इतने सभ्य और इतने योग्य कैसे हो सकते हैं कि विदेशों में, यहाँ तक कि यवन देशों में जहाँ की सभ्यता प्राचीन थी, एक भारतीय धर्म का प्रचार कर सकें। रिस डेविड्स साहब के इस वाक्य से हम उन विद्वानों की बात अच्छी तरह समझ सकेंगे। उन्होंने लिखा है–"It is quite likely that the Greek kings are only thrown in by way of make-weight, as it were; and that no emissary had actually been sent there at all. Asoka's estimation of the results obtained is better evidence of his own vanity than it is of Greek docility. We may imagine the Greek amusement at the absurd idea of a 'barbarian' teaching them their

duty, but we can scarcely imagine them discarding their gods and their superstitions at the bidding of an alien king." इसका तात्पर्य यह है—"यूनानी राजाओं का नाम अशोक ने केवल इसलिये दिया है जिससे उसकी बातों में कुछ बल आ जाय; क्योंकि अशोक का उनसे कभी कोई दौत संबंध नहीं था। अशोक का अपने कार्यों के परिणाम-स्वरूप सफलता पाने का जो विचार है, वह उसका अभिमान मात्र है। हम यह तो विचार कर सकते ही नहीं कि यूनानी लोग अपने देवताओं अथवा अपने विचारों को किसी विदेशी राजा के कहने से त्याग देंगे।" रिस डेविड्स का यह विचार है कि अशोक का यह लिखना नितांत असत्य है; और यदि कभी इस प्रकार के कार्य्य करने की उसने चेष्टा भी की होगी, तो वह पूर्ण विफल रहा होगा। हम यह तो जानते ही हैं कि यूनानी नरेशों का भारतीय नरेशों के साथ दौत संबंध स्थापित था। हम यह भी जानते हैं कि सिल्यूकस के वंशज का दूत अशोक के राज्यकाल में आया था। मिस्र-नरेश के टालेमी फिलाडेफस के भी दौत संबंध का पता लग जाता है। ऐसी अवस्था में हम यह अनुमान कर सकते हैं कि मौर्य दूत भी उनके राज्यकाल में वहाँ जाते रहे होंगे; अशोक के जो दूत उन राजाओं के दरबार में गए होंगे, संभव है, वे वैसे ही धर्म-प्रचारक रहे हों जैसे उसके देश के कर्मचारी थे। संभव है,

धर्मप्रचार के लिये जैसे उसने अपने देश में कर्मचारियों से बड़ी सहायता पाई थी, उसी प्रकार के साधनों का अवलम्बन उसने विदेशों में भी किया हो। अतः विदेशों में गए हुए ये भारतीय राजदूत संभवतः धर्मप्रचार का भी कार्य करते थे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। परंतु रिस डेविड्स साहब का यह आक्षेप है कि सभ्य यूनानी लोग, जिन्हें अपनी सभ्यता के गौरव का दावा था, अपने धर्म को किस प्रकार विदेशियों के कहने से छोड़ सकते थे! यह आक्षेप अवश्य ही सारयुक्त है। यह अवश्य हो संदेहात्मक है कि किस प्रकार अशोक सफल हुआ होगा। इस तर्क का उत्तर डा० भाण्डारकर महोदय ने अपनी 'अशोक'* नामक पुस्तक में दिया है जिससे इस शंका का समाधान हो जाता है। उनका कहना है कि पहले तो ऐसे बहुत से प्रमाण मिलते हैं जिनसे हमें पता लगता है कि यवन, जिनका संघर्ष भारतीय सभ्यता के साथ था, बौद्ध हो गए थे। पर यदि यह भी मान लिया जाय कि अशोक के कथनानुसार इस प्रकार की सफलता यूनानी लोगों में धर्मप्रचार करके नहीं हो सकती थी, तो इसका क्या प्रमाण है कि यवन देश में बसे हुए अन्य अ-यवन बौद्ध धर्म अथवा अशोक द्वारा प्रचारित धर्म के अनुयायी न हो गए होंगे? इस प्रकार यदि डा० भाण्डारकर का तर्क ठीक मान लिया जाय तो वास्तव में इस बात की संभावना है कि अशोक

* 'Asoka' by Bhandarker, P. 158.

के कथनानुसार उनके देशों में भी धर्म का प्रचार हुआ होगा और कुछ लोग बौद्ध धर्मानुयायी हो गए होंगे।

हमने इस प्रकरण में यह देख लिया कि मौर्य काल में भारत की धार्मिक स्थिति क्या थी। हमने देखा कि देश में कौन कौन से मुख्य धर्म वर्तमान थे। साथ ही राज्य की सहायता से देश में धर्म को प्रधान पद मिलता था। इसी लिये हमने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि कौन सा धर्म था जिसे मौर्य सम्राट् और अशोक मानते थे। इसके अतिरिक्त भारतीय इतिहास के धार्मिक राजाओं में अशोक का स्थान सबसे ऊँचा है। इसी कारण हमने यह भी विवेचना कर ली कि अशोक कौन सा धर्म मानता था, उसने देश के धार्मिक जीवन में किन किन बातों का समावेश किया, उनमें कौन सा परिवर्तन करना चाहा और उस धर्म का प्रचार किन उपायों से किया। हमने यह भी देख लिया कि विदेशों में भी भारतीय धर्म का प्रचार करके उसने भारतीयों की महत्ता और उच्चता किस प्रकार स्थापित की थी।

इन सब बातों को देखकर हमारे मन में स्वभावतः यह भावना उठेगी कि मौर्य काल में देश में वे सब धार्मिक विचार और उनके विषय में वे सब भावनाएँ वर्तमान थीं जिन्हें आज सभ्य संसार मानने को तैयार है। आज धार्मिक झगड़ों और सिद्धान्तों के विषय में हमारा सभ्य जगत् यह बतला देता है कि ये आपस के झगड़े और संघर्ष व्यर्थ एवं निर्मूल हैं।

प्रत्येक धर्म में सत्य है और प्रत्येक धर्म के नैतिक सिद्धान्त भी एक ही हैं; आपस का संघर्ष बिलकुल मूर्खता की बात है। धार्मिक सिद्धान्तों पर भी वर्तमान संसार का यह विचार है कि नैतिक आचार-विचार ही सच्चे धर्म हैं। मनुष्यतापूर्ण कार्य करना, धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, सत्यादि का प्रचार करना ही सच्चे धर्म का प्रचार है और यही सच्चा धर्म है। इन सिद्धांतों में तथा संसार के और किसी धर्म के सिद्धांतों में कहीं कोई भेद नहीं है। इसलिये इन बातों का पालन और परधर्म की सहिष्णुता ही सभ्य जगत् के वर्तमान धार्मिक सिद्धांत हैं।

अब यदि हम मौर्य काल की स्थिति तथा अशोक के द्वारा प्रचारित भावों पर दृष्टि डालेंगे तो यह बात अच्छी तरह समझ जायँगे कि ये सिद्धांत देश में आज से दो हजार वर्ष पूर्व ही प्रचलित हो रहे थे और अशोक का संसार को यही संदेश है। भला इन विचारों पर ध्यान देते हुए भारत की प्राचीन आर्य सभ्यता की शालीनता, उसकी उच्चता, उसकी महत्ता में कौन सन्देह कर सकता है? भारत में धार्मिक सहिष्णुता तो अति प्राचीन काल से ही प्रचलित है। इसी के न होने से संसार में धर्म के नाम पर परमात्मा के द्वारा उत्पन्न किए हुए न जाने कितने जीवों के सिर उसी के सपूतों ने काट गिराए हैं! ईश्वर के नाम पर, धर्म के नाम पर, आज तक न मालूम कितने जघन्य और घृणित युद्ध हो चुके हैं और न जाने कितने

प्राणियों की हत्या की जा चुकी है। इसका सबसे बड़ा कारण धार्मिक असहिष्णुता ही रही है। परंतु भारतीय सभ्यता की महत्ता की ओर संसार नेत्र उठाकर देखे कि उसमें यह भाव कभी नहीं आया; और यदि कभी आया भी तो उन्हीं के कारण जो असहिष्णु और अंध धर्मभक्त कहे जाने के योग्य हैं।

इस प्रकार हम एक बार पुनः यह कहने का साहस करते हैं कि मौर्य काल में जिस प्रकार भारतीय सभ्यता ने, भारतीय समाज ने, अन्य विषयों में महत्ता और उच्चता प्राप्त की थी, उसी प्रकार धार्मिक स्थिति और धार्मिक विषयों में भी उसने उच्चता, बुद्धिमत्ता तथा सत्य धर्म-प्रियता का परिचय दिया था। आज हम अभागे भारतीय उन्हीं वातावरणों के द्वारा अपने को गौरवशील समझते हैं और परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हमारे वे सौभाग्य के दिन पुनः लौटें।

सातवाँ अध्याय

मौर्य साम्राज्य का पतन

मौर्य काल के उत्थान और मौर्य सम्राटों के राज्यकाल में भारतीय समाज तथा उसके जीवन के सभी अंगों की अवस्था पर एक सरसरी नजर डाली जा चुकी है। मौर्य साम्राज्य की संस्थापना चंद्रगुप्त ने की थी, बिंदुसार और अशोक ने उसे और भी सुसंघटित और विस्तृत किया तथा उसका उपभोग भी किया। परंतु हम आगे चलकर देखते हैं कि अशोक के बाद ही मौर्य साम्राज्य की स्थिति डाँवाडोल हो गई और थोड़े ही दिनों बाद उसका पतन हो गया।

अशोक के वंशजों के विषय की बहुत सी बातों में मत-भेद है। अशोक की राजमहिषी कारुवाकी थीं। प्रयाग के किले में जो लघु स्तंभलेख प्राप्त हुआ है, उसमें अशोक की प्रधान स्त्री का नाम कारुवाकी मिलता है। इसी कारुवाकी से अशोक को एक पुत्र भी हुआ था जिसका नाम तीवर था। यह बात भी उसी स्तंभलेख से प्रकट है। यह तीवर ही संभवतः अशोक का ज्येष्ठ पुत्र था, जो जीवित रहने पर उसके बाद भारतीय साम्राज्य सिंहासन का अधिकारी होता। पर ऐसा जान पड़ता है कि अशोक का यह पुत्र उसके जीवन काल में ही इस संसार से चल बसा था।

बौद्ध कथाओं से यह भी पता चलता है कि अशोक का एक पुत्र कुणाल भी था। कुणाल बड़ा ही सुंदर था। अशोक की एक दूसरी स्त्री थी, जिसका नाम तिष्यरक्षिता था। यह संभवतः अशोक की वृद्धावस्था के आरंभ में ब्याही गई थी। कहा जाता है कि यह अच्छे चरित्र की न थी और स्वयं अपने पति को ही बड़ा दुःख दिया करती थी। यह तिष्यरक्षिता, कुणाल की विमाता होने पर भी, उसकी सुंदरता पर मुग्ध हो गई। इतना ही नहीं, उसने अपनी पापेच्छा कुणाल पर प्रकट की। धर्मात्मा कुणाल को अपनी माँ के इस घृणित प्रस्ताव से बड़ा खेद हुआ और उसने उसकी बात को अस्वीकार कर दिया। इस पर रानी ने क्रोध में आकर राजकुमार को धोखा देकर उसकी सुंदर आँखें निकलवा लीं। यह बौद्ध कथा कहाँ तक सत्य है, इसका पता नहीं; क्योंकि कुणाल नाम का कोई पुत्र अशोक को था या नहीं, यह बात निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है*। इस कारण अशोक के राज्यासन पर आसीन होनेवाले अशोक के किसी पुत्र का नाम नहीं मिलता। पुराणों में अशोक के बाद उसके पौत्र दशरथ का नाम आता है जो सम्राट् पद पर आसीन हुआ था।

---

* पुराणों में दी हुई वंशावलियों में भी अशोक के उत्तराधिकारियों में कुणाल (सुयश) का आठ वर्ष तक राज्य करना लिखा है (देखो पार्गिटर साहब कृत कलियुग के वंश पृ० २७ से)। तारानाथ ने अपने बौद्ध धर्म के इतिहास में भी कुणाल का उल्लेख किया है (शेफनर पृ० ४८)। पर कुणाल का वर्णन किसी शिलालेख में नहीं मिलता। सं०

नागार्जुनी पहाड़ी में दशरथ का एक गुफा-लेख भी प्राप्त हुआ है। उसी से हमें यह पता चलता है कि दशरथ नाम का कोई राजा वास्तव में था जो अशोक के बाद उसके साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। अशोक के पौत्र दशरथ के गुफा-लेखों की भाषा, उसकी लिपि तथा उसकी लेखन-शैली से ज्ञात होता है कि वह अशोक के बहुत बाद का नहीं है, वरंच संभव है कि उसके बाद ही उसके साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ हो। दशरथ के राज्यकाल के लिये पुराण आठ ही वर्ष का समय बतलाते हैं। यदि यह सच है तो कहा जा सकता है कि उसका राज्य अधिक दिनों तक नहीं टिका।

अशोक के एक दूसरे पौत्र का भी नाम मिलता है। दंत-कथाओं से पता चलता है कि वह कुणाल का पुत्र 'संप्रति' था। यद्यपि 'संप्रति' का नाम आज तक किसी लेखादि में नहीं मिला है, तथापि उसका वर्णन बहुत सी दंतकथाओं में आता है*। विद्वानों का मत है कि 'संप्रति' केवल एक कल्पित व्यक्ति ही नहीं था, बल्कि वास्तव में वह अशोक का पौत्र था। उन लोगों के विचार से अशोक के इन दोनों पौत्रों में उसका विस्तृत साम्राज्य विभक्त हो गया और पूर्वी भाग का शासक दशरथ तथा पश्चिमीय का 'संप्रति' हुआ। जैन ग्रन्थों के आधार पर यह पता चलता है कि 'संप्रति' की राज-

---

* संप्रति का वर्णन जैन ग्रंथों में है। देखो जेकोबी का नोट कल्प-सूत्र के संबंध में; सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट; भाग १२; पृ० २९० । सं०

धानी उज्जैन थी। जैनों के अनुसार 'संप्रति' जैनी था। उनका कहना है कि उसने जैन धर्म के प्रचार में वैसा ही परिश्रम करना चाहा, जैसा कि अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार में किया था। उसके विषय में राजपूताने में, अजमेर से लेकर काठियावाड़ तक, नाना प्रकार की कथाएँ फैली हुई हैं। उसके विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि उसने बहुत से जैन मंदिरों की स्थापना की थी। जोधपुर में नाद-लाई के मंदिर तथा जहाजपुर के किले का स्थापक वही कहा जाता है। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि 'संप्रति' अशोक का पौत्र था और पश्चिमीय प्रांत का शासक था। परंतु इस मत के पक्ष में कोई प्रौढ़ और पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। मौर्य साम्राज्य का अंतिम पटाक्षेप बृहद्रथ मौर्य के समय में हुआ। बृहद्रथ का सेनापति पुष्यमित्र था। कहा जाता है कि पुष्यमित्र ने षड्यंत्र रचकर बृहद्रथ का वध कर मौर्य साम्राज्य हस्तगत कर लिया। उसने एक नवीन राजवंश की नींव डाली जो भारतीय इतिहास में शुंग वंश के नाम से विख्यात हुआ। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य भारतीय इतिहास के पृष्ठों में केवल पढ़ने और सुनने के लिये रह गया।

भारतीय इतिहास में मौर्य काल को वह मुख्य स्थान प्राप्त है, जिसमें भारतीय सभ्यता ने अपनी उन्नति की और वह अपने प्रकाश से सारे संसार में एक बार चमक उठी। मौर्य

साम्राज्य के निर्माता चंद्रगुप्त ने जिस शौर्य और चातुर्य से मौर्य साम्राज्य की संस्थापना की, उसे हमने संक्षेप में देखा। बिंदुसार ने देश में ही अपना साम्राज्य दृढ़ किया और विद्वानों के मतानुसार उसे अपने देश में ही और विस्तृत किया।

यही मौर्य काल है जिसमें हमें भारतवर्ष के इतिहास में एक राष्ट्र स्थापित होने की सूचना मिलती है। इसी साम्राज्य के पद पर तीसरा सम्राट् अशोक आरूढ़ हुआ। अशोक कितना बलवान्, दृढ़ और न्यायी शासक था, इसका पता पाठकों को पिछले प्रकरणों में मिल चुका है। हमने यह देख लिया कि अपने सारे जीवन में केवल एक बार कलिङ्ग-विजय को छोड़कर अशोक ने पुनः शस्त्र का स्पर्श नहीं किया। विदेशियों से उसका संबंध स्थापित था; परंतु फिर भी उसके शासन काल में हमें न तो किसी विदेशी आक्रमणकारी के आक्रमण का अथवा न किसी प्रांत में कहीं किसी प्रभावशाली विद्रोह की उत्तेजना का ही पता मिलता है। यह मौर्य सम्राट् अशोक के सुंदर, सुव्यवस्थित शासन-प्रबंध की महत्ता तथा विदेशियों पर जमे हुए उसके भारी प्रभाव का द्योतक है।

अशोक संसार के सम्राटों में से एक मुख्य और विशेष सम्राट् हो गया है। अशोक के उन्नत धार्मिक विचार, उसके उन्नत आदर्श, उसका अध्यात्म-विषयक भाव, उसका त्याग, उसके शासन का सुव्यवस्थित प्रबंध, उसके विस्तृत

साम्राज्य का बलवान् हाथों द्वारा शासन आदि ऐसे विषय हैं जिनके कारण वह भारत के ही नहीं, वरन् सारे संसार के महान् सम्राटों में अद्वितीय और अपूर्व समझा जाता है। आज संसार के इतिहासज्ञ विद्वान् यह मानने में नहीं सकुचते कि संसार के इतिहास में अशोक सम्राटों के जिस पद पर पहुँचा था, उस पर बहुत ही कम लोग पहुँचे होंगे। अशोक के समान अथवा उससे बड़े योद्धा और शासक सम्राटों में हो गए होंगे। परंतु सारी प्रजा के, मानव समाज के, संसार के सारे प्राणियों के हित-साधन की जो चेष्टा अशोक ने की, वह और किसी से न बन पड़ी। प्रजा के इहलौकिक सुख के साथ ही साथ उसकी पारलौकिक और आध्यात्मिक उन्नति का जो यत्न अशोक ने किया, वह किसी दूसरे ने नहीं किया।

सिकंदर, सीजर, नेपोलियन आदि संसार के बड़े बड़े सम्राटों की शासन-क्षमता अथवा विजय करने की शक्ति को कौन अस्वीकार कर सकता है? उनके बल, उनकी रण-चातुरी, उनकी विजयिनी सेना के भारी संघटन आदि विषयों में उनकी महत्ता सभी बुद्धिमान् मनुष्य स्वीकार करते हैं। परंतु उन्हीं के कार्यों को, उन्हीं की सफलताओं और महत्वाकांक्षाओं को एक दूसरी दृष्टि से देखने पर हमें पता लगेगा कि वे अशोक की महत्ता और उच्चता के पलड़े पर हलके ठहरते हैं। इन बड़े बड़े वीरों की समालोचनात्मक विवेचना करते हुए इस विषय पर दृष्टि डालने पर कि उनका संसार और

मनुष्यता के नाम पर कौन सा कार्य हुआ है, उन्होंने जगत् के लिये क्या संदेश दिया है, हम देखते हैं कि वे अशोक के सामने नहीं टिक सकते।

हम इन वीरों की, जहाँ तक शुष्क वीरता का संबंध है, महत्ता मानने को तैयार हैं। पर जहाँ मानव समाज के सुख और शांति का प्रश्न उठता है, जहाँ संसार के कल्याण और उन्नति का प्रश्न उठता है, जहाँ प्रजा के इहलौकिक और पारलौकिक सुख का संबंध होता है, जहाँ परोपकार और मनुष्यता के लिये त्याग तथा तपस्या की आवश्यकता प्रतीत होती है, वहाँ नेपोलियन अथवा सीजर की वीरता और अपनी अभिलाषा पूर्ण करने की प्रबल इच्छा की महत्ता बहुत ही तुच्छ, जँचती है। उस समय अशोक ही अपूर्व और अद्वितीय रूप में संसार के इतिहास में प्रकाशित होता है। अशोक ने सारे संसार के सांसारिक सुखों की पूर्त्ति और पारलौकिक जीवन की उन्नति के लिये जिन साधनों को खोज निकाला और उन्हें जिस प्रकार कार्य रूप में परिणत करने की चेष्टा की, यह हम पहले ही बतला चुके हैं। सारे मौर्य साम्राज्य की विशेषता, उच्चता और महत्ता, जो कुछ थी—जो उसे संसार के इतिहास में एक प्रधान और अपूर्व रूप देती है—वह अशोक के द्वारा संपादित ये सुंदर और उत्तम कार्य हैं। और यही कारण है कि अशोक आज अद्वितीय रूप में प्रकाशित हो रहा है। महाशय वेल्स का कहना है—"Amidst the tens and

thousands of names of monarchs that crowd the columns of History, their magesties and graciousnesses and serenities and royal highnessess and the like, the name of Asóka shines and shines almost alone a star." *अर्थात् "इतिहास के पृष्ठों में भरे हुए हजारों सम्राटों और बड़े से बड़े बादशाहों के नामों में अशोक एक अद्वितीय और अपूर्व सितारा है, जो प्राय: अकेला ही प्रकाशित होता और चमकता है।"

इस प्रकार हमने देख लिया कि चंद्रगुप्त द्वारा स्थापित साम्राज्य अशोक के काल में अपनी उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँचा था। देश की जो कुछ उन्नति या वृद्धि मौर्य काल में हुई, उसकी पूर्णता का समय अशोक का ही राज्य-काल था। देश की शक्ति, उसका धन, उसका सुख, उसका शिल्प, उसका धर्म, सब के सब अशोक के ही राज्य-काल में उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच चुके थे।

परंतु अब यह प्रश्न उठता है कि अशोक ऐसे बलवान् और चतुर शासक की शासन-व्यवस्था के द्वारा शासित देश में इतना शीघ्र राज्य-परिवर्तन कैसे हो गया। राज्य-परिवर्तन के दो ही कारण हुआ करते हैं। पहला तो यह कि जब किसी साम्राज्य का शासक वे काम करना आरंभ करता है जिनके विरुद्ध लोकमत होता है, तो वह साम्राज्य अवश्य नष्ट हो जाता

* Outhlne of History by Mr. Wells, quoted in Asoka p. 132. by Dr. Bhandarker.

हैं। लोकमत के विरुद्ध कोई शासन-व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं टिक सकती। अतः जो शासक ऐसे कार्य किया करता है, जिनसे प्रजा को कष्ट हो, उसके आनंद, सुख और शांति तथा स्वाधीनता में बाधा पड़ती हो, उस शासक का सौभाग्य-सूर्य अवश्य ही अस्त हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं। दूसरा कारण यह है कि शासक निर्बल, मूर्ख, स्वार्थपर, अथवा विलासी हो तो भी शासन-व्यवस्था या राज्य का दूसरे के हाथों में चला जाना संभव है।

अब यदि इन दोनों बातों की विवेचना की जाय तो हम देखेंगे कि न तो अशोक ऐसा ही शासक था जो लोकमत के विरुद्ध चले, प्रजा पर व्यर्थ का अत्याचार करे या उन्हें कष्ट दे; और न उसकी शासन-व्यवस्था ही इतनी कमजोर थी कि शीघ्रता से टूट जाय। साथ ही अशोक निर्बल और विलासी भी नहीं था, जिससे उसके राज्य की नींव कमजोर होती जाती और जो उसके मरते ही एकदम नष्ट हो जाती—हुकूमत की सारी की सारी इमारत जमीन पर आ जाती!

ऐसी अवस्था में किन कारणों से चंद्रगुप्त का स्थापित सुदृढ़ मौर्य साम्राज्य अशोक के मरते ही रसातल को चला गया, इसका पता लगाना आवश्यक है।

कुछ विद्वानों की सम्मति है कि मौर्य साम्राज्य के पतन का सब से बड़ा कारण ब्राह्मणों का असंतोष था। उनका कहना है कि मौर्य साम्राज्य में अशोक के धर्म-प्रचार के कारण

ब्राह्मणों का प्रभाव देश में बहुत कुछ घट गया था। उनके विचार में यह आता है कि वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था, इस कारण ब्राह्मणों की अपेक्षा बौद्धों का अधिक पक्षपात करता था। इसी लिये ब्राह्मणों ने उसके मरने के बाद उसके राज्य के विरुद्ध प्रचार आरंभ किया और फलतः इसी से मौर्य साम्राज्य का शीघ्र पतन हुआ। संभव है, अशोक के द्वारा पशुवध बंद हो जाने तथा धार्मिक रीति-रिवाजों के विरुद्ध प्रचार होने के कारण ब्राह्मणों को कुछ बुरा लगा हो और ज्योंही अशोक का शरीर छूटा हो, त्योंही वे मौर्य साम्राज्य के विरोधी होकर उसके पतन में सहायक हुए हों। परंतु यह कारण कहाँ तक उपयुक्त हो सकता है, यह विचारणीय है। उस न्याय-प्रिय, उदार और दयावान् सम्राट् ने जिस भारतीय प्रजा का पालन पुत्र के समान किया, जिस प्रजा के सुख के लिये उसने अनेक साधन ढूँढ़ निकाले, वह प्रजा इतनी कृतघ्न निकली हो कि अपने हितू सम्राट् के मरते ही उसके साम्राज्य की जड़ में कुठाराघात करे, यह बात समझ में नहीं आती। भारतीयों की मनोवृत्ति इस के बिलकुल विपरीत है। पर हाँ, यह अवश्य संभव है कि ब्राह्मण-मंडली उसके पतन के लिये लालायित रही हो और उसने इस बात के लिये प्रयत्न भी किया हो कि मौर्य साम्राज्य में क्रांति हो।

परंतु केवल इसी कारण से चित्त का समाधान नहीं हो जाता। उपर्युक्त कारणों की खोज के लिये कुछ अधिक विवे-

चना करने की आवश्यकता है। यदि हम अशोकीय काल की विवेचना ध्यानपूर्वक करें, तो हमें पता चलेगा कि भारतवर्ष उस समय आर्य सभ्यता की तरंगों में प्रवाहित हो रहा था। परंतु अशोक ने भारतीय सभ्यता के जिस अंग पर अधिक जोर डाला, उससे देश में ऐसा वायुमंडल तैयार हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि सांसारिक उन्नति से लोगों का चित्त हटकर आध्यात्मिक उन्नति की ओर लग गया। इसका फल यह हुआ कि सांसारिक उन्नति का अवरोध हो गया, उस तरफ से लोगों का ध्यान हट गया और देश में आध्यात्मिकता, त्याग, अहिंसा आदि धार्मिक प्रवृत्तियों का उत्थान हुआ। सांसारिक विषयों की इसी अवनति के साथ साथ लोगों का ध्यान राजनीतिक क्षेत्र से भी फिर गया और इसी कारण देश की राजनीतिक दुर्बलता का आरंभ हुआ।

हमें भारतीय इतिहास के द्वारा मालूम हो जाता है कि किस प्रकार मगध की छोटी सी रियासत पर बिंबसार ने राज्य किया और तभी से धीरे धीरे देश की राजनीतिक उन्नति आरंभ हुई। बिंबसार ने मगध राज्य को साम्राज्य का रूप दिया और वही साम्राज्य चंद्रगुप्त के समय "भारतीय साम्राज्य" में परिणत हो गया। चंद्रगुप्त ने जिस प्रकार देश की राजनीतिक उन्नति की थी, उसका दिग्दर्शन पूर्व के एक प्रकरण में हो चुका है। चंद्रगुप्त ने केवल हिंदूकुश से लेकर तामिल प्रदेश तक में भारतीय साम्राज्य का ही विस्तार नहीं किया,

बल्कि अपने बल और शौर्य्य का परिचय प्रसिद्ध यवन वीरों को भी दिया और विदेशों में अपना प्रभाव स्थापित किया। यह भारतीय राजनीतिक शक्ति का प्रबल प्रमाण है। राजनीतिज्ञता का प्रमाण यदि हम चाहते हों, तो कौटिल्य का अर्थशास्त्र देखें। कौटिल्य का अर्थशास्त्र चंद्रगुप्त के समय में बना है। इसका इससे अच्छा और कोई प्रमाण नहीं हो सकता कि उस समय में भारतीय समाज के जीवन में राजनीति और कूटनीति का एक मुख्य स्थान था। हमने देख लिया कि मौर्य्य काल में भारत की राजनीतिक उन्नति हो रही थी। इसी राजनीतिक शक्ति की उन्नत अवस्था का परिचय हमें अशोक के काल में भी मिलता है, जब कि हम देखते हैं कि भयंकर युद्ध करके उसने कलिङ्ग की विजय की।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि अशोक के जीवन की पूर्वावस्था तक भारतवर्ष में प्रचुर सैनिक शक्ति, विजय करने की इच्छा और राजनीतिज्ञता वर्तमान थी। इसी सैनिक शक्ति के बल पर अशोक ने आज के दो सहस्र वर्ष पूर्व उस विस्तृत भारतीय साम्राज्य पर अधिकार प्राप्त किया था, जो इतना बृहत् था कि यदि ब्रिटिश भारत से बरमा और आसाम निकाल दिया जाय तो वह अशोकीय साम्राज्य की समता नहीं कर सकता।

समस्त भारत में एक ही आर्य्य सभ्यता का प्रचार हो गया था, सारा देश आर्य्यत्व में डूब गया था। वह समय बहुत

निकट था जब मौर्य्यकाल में सारा भारतवर्ष एक आर्य्य राष्ट्र के नाम से पुकारा जाता। यदि उस समय कोई आवश्यकता थी तो यही कि देश में राजनीतिक शक्ति अटल और स्थिर रूप से स्थापित की जाय। आवश्यकता थी इस बात की कि एक समान और साधारण राजनीतिक एकता सारे देश में स्थापित की जाय और वह पक्की और मजबूत नींव पर स्थापित की जाय। इसलिये यदि उस समय अशोक उस नीति को जारी रखता जिसे उसके पूर्ववर्ती सम्राटों ने आरंभ किया था, तो निस्संदेह वह राजनीतिक स्थिति उत्पन्न हो गई होती जिसकी जड़ इस मजबूती से देश में कायम हुई होती कि हमारा राजनीतिक ह्रास बहुत दिनों तक न होता।

परंतु धर्म की भावना ने अशोक के मस्तिष्क में ऐसी क्रांति उत्पन्न कर दी कि उसका सारा जीवन ही दूसरे रंग में रँग गया; और केवल उसी का नहीं बल्कि सारे देश का ही जीवन एक दूसरी ओर को प्रवाहित हो गया। उसकी यह धार्मिक प्रवृत्ति यदि उसे अपने जीवन को बदलने के लिये बाध्य न किए होती तो वह उस समय की संघटित सेना के द्वारा सारे भारत में वह प्रबल राजनीतिक और विजयिनी इच्छा उत्पन्न कर देता जिसके द्वारा केवल बचे हुए भारत के कुछ भाग में ही नहीं वरन् भारतीय सीमा का उल्लंघन करके विदेशों में भी मौर्य्य साम्राज्य का प्रबल प्रताप बहुत दिनों के लिये स्थापित कर देता।

इसी प्रबल धर्म की भावना के कारण उसने युद्ध का विचार ही छोड़ दिया। कलिंग-युद्ध के वर्णन में उसने लिखा है कि यदि उस युद्ध के प्राणिनाश का सहस्रांश भी पुनः होगा, तो हमें भारी कष्ट पहुँचेगा। इसी इच्छा के कारण उसने यह घोषणा की कि अब युद्ध-विजय के स्थान में धर्म-विजय करना चाहिए; और यह केवल हमारा ही धर्म नहीं है, बल्कि भविष्य में आनेवाले हमारे वंशज भी इसी विचार के अनुसार कार्य्य करें। यह नीति अशोक ने अपने राज्यकाल में आरंभ की।

राज्य के द्वारा संचालित नीति में परिवर्तन होने के कारण इसका परिणाम देश की राजनीतिक स्थिति के लिये भयंकर और नाशकारी हुआ। शांति और अहिंसा की प्रबल धारा देश में बह निकली—भारतीयों का स्वाभाविक आध्यात्मिक मस्तिष्क और भी आध्यात्मिक हो गया। युद्ध-विजय के स्थान में धर्म-विजय की नीति के संचालन का इसके सिवा और क्या परिणाम हो सकता था कि देश में सैनिक शक्ति, राजनीतिक महत्ता और भौतिक सुख तथा आवश्यकताओं के विपरीत वायुमंडल बने! वस्तुतः हुआ भी यही। भारतीयों के हृदय में आध्यात्मिकता का जो बीज बोया गया, उसके अंकुर धीरे धीरे अंकुरित होने लगे और भारतीय चरित्र में परिवर्त्तन होने लगा।

यही कारण है कि कौटिल्य के बाद बहुत दिनों तक राजनीतिक सिद्धांतों और उनके विकसित होने का पता नहीं लगता।

विशेषत: ऐसी अवस्था में हमारी राजनीतिक उन्नति का अव-रोध हुआ जिस समय भारतवर्ष में एक आर्य्य राष्ट्र और एक आर्य्य सभ्यता का स्थापित होना आरंभ हुआ था। अशोक के नवीन धार्मिक क्षेत्र में पड़कर भारतवर्ष को अपनी उठती हुई राष्ट्रीय महत्ता और अपने को एक केंद्रस्थ शक्ति के रूप में परिणत कर देने की इच्छा का परित्याग कर देना पड़ा।

ग्रीकों ने भारतवर्ष में प्रवेश करके यहाँ आने का मार्ग बना दिया था। उन्हीं का पदानुसरण करके भारतीय शक्ति के निर्बल और विभक्त हो जाने के कारण आगे चलकर हूण आदि अनेक नई असभ्य और बर्बर जातियाँ भारत में घुस आईं। इन सबकी जिम्मेदार अशोक की धार्मिक नीति थी। इस प्रकार अशोकीय काल के बाद भारतीय साम्राज्य का जो नाश आरंभ हुआ, उसका कारण यही था कि अशोक की धार्मिक नीति ने एक भारी परिवर्त्तन कर दिया जिसके कारण भारतवर्ष की राजनीतिक महत्वाकांक्षा के स्थान में धार्मिक भावना की स्थापना हुई; और देश में राष्ट्रीय उन्नति का अवरोध हुआ जिसका परिणाम राजनीतिक शक्ति का ह्रास तथा राज-नीतिक सिद्धांतों के विकास के मार्ग में रोड़े का अटकना हुआ। देश की सैनिक शक्ति का ह्रास आरंभ हुआ। मौर्य राजा युद्ध-विरोधी हुए, उनकी शक्ति नष्ट हो गई, उनमें निर्बलता का विकास हुआ। ऐसी अवस्था में जो हुआ करता है, वही हुआ। सेनापति पुष्यमित्र के हाथों में शक्ति थी। उसने

षड्यंत्र रचकर निर्बल और युद्ध से विरक्त मौर्य सम्राट् का वध करके मौर्य साम्राज्य को उलट दिया* ।

यद्यपि अशोक ने भारतीयता की उन्नति की, उसके कारण देश विदेश में भारतीय सभ्यता का प्रचार हुआ, मनुष्यता और धर्मप्रियता की भावना देश में फैली, हिंदू सभ्यता के मुख्य

---

* मौर्य साम्राज्य के पतन के कारणों पर विचार करते हुए और तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए। एक तो यह कि मौर्य सम्राट् ने अन्यान्य छोटे छोटे एवं स्वतंत्र राज्यों को जीतकर साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया था। ठीक ज्ञात नहा कि विजित राज्यों में मौर्यों ने स्वयं अपना शासन स्थापित किया अथवा कुछ शर्तों पर पूर्व शासक को ही रहने दिया। यदि उन्होंने एककेंद्रीय शासन की स्थापना की तो उनके पास प्रान्तीय शासन के लिये वे साधन न थे जो आधुनिक साम्राज्यों को प्राप्त हैं। यदि पूर्वशासन ही रहने दिया तो स्थानिक राज्यों में स्वतंत्रता प्राप्त करने की इच्छा अवश्यमेव विद्यमान रही होगी। साम्राज्य के कमज़ोर होते ही स्थानिक राज्यों अथवा राजाओं ने स्वतंत्रता के लिये आंदोलन आरंभ कर दिया होगा। दूसरा कारण अशोक के कई पुत्रों का होना था। अशोक अपने पुत्रों को ही बड़े बड़े प्रांतों का राजप्रतिनिधि (गवर्नर) नियुक्त करता था। उसके मरने पर उसके पुत्रों में राज्य बाँटने की इच्छा उत्पन्न हो गई। कोई पुत्र इतना योग्य और बलवान् न था जो दूसरों को दबाकर अपना सर्वाधिकार स्थापित कर सकता। संभव है कि जालोक ने काश्मीर और पंजाब प्रांतों में और संप्रति ने दक्षिण राजपूताने, गुर्जर एवं सुराष्ट्रादि प्रांतों में अपने अपने राज्य स्थापित कर लिए हों जिससे पाटलिपुत्र में राज्य करनेवालों का बल क्षीण हो गया हो और राज्यपरिवर्तन का मार्ग खुल गया हो। तीसरी बात यह है कि अशोक के समय से साम्राज्य की सेना बेकार और

अंग की उन्नति हुई, परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी हमारे सामाजिक जीवन के एक अंग में उसकी नीति के कारण निर्बलता और अनुत्साह का बीज वपन हो गया, जिससे मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ और जिस नीति के प्रभाव के कारण भारत की हानि भी अवश्य हुई।

क्षीण हो रही थी। सैनिक लोग उत्तरकालीन मौर्यों की शांति-विधायक एवं निस्तेज नीति से असन्तुष्ट और क्रुद्ध होकर परिवर्तन के इच्छुक हो गए हों जिससे पुष्यमित्र को बृहद्रथ के मारने का अवसर सहज में मिल गया हो। अस्तु। इस विषय पर विद्वानों ने अभी अपने विचार पूर्णरूपेण और दृढ़तापूर्वक प्रकट नहीं किए हैं। विवाद चल रहा है। सं०

उपसंहार

विधि का विधान विचित्र होता है। आज जिसे हम उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँचा हुआ देखते हैं, उसी को कल पतन के घोर अंधकारमय गह्वर में गिरा पाते हैं। चाहे कोई वीर हो, चाहे सम्राट् हो, चाहे संसार को अपनी तड़प से थर्रा देनेवाला विजयी हो, सभी एक न एक दिन पतन की दुरवस्था को प्राप्त होते हैं। मार्तण्ड का प्रबल प्रताप भी धीरे धीरे सायंकाल में विलीन होता है; और इसी प्रकार भयंकर अंधकारमय नीरव निशीथ का भी अंत सुंदर प्रभात में होता है। संसार का यह प्राकृतिक, अटल और सत्य नियम है कि जगत् की सभी बातों में परिवर्तन होगा—जिसका उत्थान होगा, उसका पतन भी होगा।

जिस मौर्य साम्राज्य की स्थापना वीरवर चंद्रगुप्त ने की, जिसकी विजयिनी सेना के सबल बाहुओं का परिचय सुदूर के यवनों ने प्राप्त किया, जिसकी वीरता के कारण विदेशियों द्वारा कुचला जाता हुआ भारत स्वतंत्र हुआ, जिसने भारतीयता स्थापित करने के लिये देश में दूसरी विच्छिन्न शक्तियों को एकत्र करके एक सूत्र में बाँधा, उस मौर्य साम्राज्य का भी एक दिन पतन हुआ।

जिस मौर्य साम्राज्य के लिये अशोक ने कलिंग विजय किया, जिस साम्राज्य की छाया पाकर भारतवर्ष कुछ दिनों के लिये निर्भय हो गया, जिसकी रक्षा में प्रजा ने हर प्रकार की उन्नति की, जिस साम्राज्य के स्थापित होने के कारण भारतीयों को यह अवसर मिला कि संसार को वे अपना सँदेसा सुना सकें, वही मौर्य साम्राज्य, कालचक्र के नियमानुसार, एक दिन अस्त हो गया और संसार के इतिहास में केवल अपना नाम छोड़ गया।

मौर्य साम्राज्य का उत्थान हुआ और पतन हुआ। मनुष्य स्वयं स्वार्थी होता है। हमें उसके उत्थान और पतन का दुःख नहीं है; हम जानते हैं कि ऐसा हुआ ही करता है। पर थोड़े में यह जान लेना चाहिए कि उस साम्राज्य ने हमारा कौन सा स्वार्थसाधन किया, हमारी स्थिति उस समय क्या थी और क्या बनी। किसी काल के इतिहास का विवरण हमें दूसरे राजाओं के जीवन अथवा उनके व्यक्तिगत चरित्र की आलोचना करके नहीं जानना चाहिए, बल्कि उसके स्थान में यह देखने की आवश्यकता होती है कि देश का जीवन कैसा था और उस पर उस राज्य अथवा साम्राज्य का क्या प्रभाव पड़ा था।

हमने मौर्य साम्राज्य का वर्णन संक्षेप में पूर्व के पृष्ठों में किया है। जीवन के सभी अंगों, समाज के सभी अवयवों पर एक दृष्टि डाली है। हमने देखा कि उस समय भारतीय

राजनीतिक प्रकाश में चंद्रगुप्त का उत्थान बाल-सूर्य के समान हुआ। हमने देखा कि भारतीय राजनीतिक प्रभात हो रहा है; सारे देश में एकात्मता आई; देश के सारे स्फुट भाग क्रमश: आपस में मिले। देश की छोटी छोटी रियासतें, देश के छोटे छोटे राज्य, धीरे धीरे मौर्य साम्राज्य में विलीन होने लगे। सिकंदर का आक्रमण, और उस काल में चंद्रगुप्त के कारण विदेशियों का मुँहतोड़ उत्तर पाना, ऐसे विषय हैं जिनकी वजह से देश ने देखा कि इस समय इसी में कल्याण है कि हम सब एक हो जायँ, हमारी शक्ति एक हो, हमारा आदर्श एक हो; बिना इसके शक्तियों का पारस्परिक संघर्ष बंद न होगा।

वास्तव में यही हुआ। धीरे धीरे देश में एक राष्ट्र स्थापित हुआ; देश की सारी शक्ति एक साथ मिली; उसका बल और प्रताप बढ़ा। एक राष्ट्रीयता स्थापित हुई, जिसके प्रभाव से मौर्य काल में भारतीय शक्ति और भारतीय सभ्यता विदेशों में चमक उठी।

देश की शक्ति की केंद्रस्थता आरंभ हुई—सम्राट् के हाथों में उसने अपनी शक्ति, अपनी रक्षा और शिक्षा का अधिकार दिया। देश का शासन सम्राटों के हाथ में आया। जिन सम्राटों के हाथ में शक्ति थी, जिनके हाथ में बल था, जिनके अधीन सैनिक शक्ति थी, जिनका देश पर अधिकार था, ऐसे लोगों के हाथों में हमारे शासन की बागडोर गई। शासन ही ऐसी वस्तु है जिसके द्वारा देश की अन्य अवस्थाओं का

सुधार हो सकता है। जहाँ का शासन अनुकूल है, वहाँ की सभी दशाओं—सामाजिक, आर्थिक सभी—के सुधरने की आशा रहती है। पर जहाँ का शासन प्रतिकूल होगा, उस देश का बल धीरे धीरे चीण होता जायगा और वह पतन की ओर अग्रसर होगा। परंतु अनुकूल शासन और प्रतिकूल शासन की यदि कोई मुख्य और थोड़े में व्याख्या की जा सकती है, तो वह यह कि देश का अनुकूल शासन वह है जिसमें प्रजा का हित सर्वोपरि समझा जाता है; और देश का प्रतिकूल शासन वह है जिसमें प्रजा के स्थान पर राजा अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं और वासनाओं की पूर्ति की चेष्टा किया करे, चाहे उससे प्रजा का नाश हो और चाहे उसका पतन हो।

यही अनुकूल और प्रतिकूल शासन की थोड़े में व्याख्या है। अब यदि हम विचारपूर्वक देखेंगे तो हमें ज्ञात होगा कि अनुकूल शासन-व्यवस्था वह होगी जिसमें प्रजा का भी हाथ रहेगा। जिस शासन-व्यवस्था में प्रजा का हाथ मुख्य होगा, जिसमें प्रजा की आवाज सुना जाना आवश्यक होगा, वह शासन-व्यवस्था अवश्य ही प्रजा के अनुकूल होगी; क्योंकि अपने सुख और आवश्यकता को जितना प्रजा समझेगी, उतना और कोई नहीं समझ सकता।

इसी प्रकार जिस शासन-व्यवस्था में प्रजा का कोई हाथ नहीं, उसकी कोई सुनवाई नहीं, जिसका प्रबंध केवल एक

आदमी के हाथ में है, जिस पर कोई नियंत्रण नहीं है, जिसमें अकेला आदमी लाखों नर-नारियों के भाग्य का हर्ता-कर्ता है, वह शासन-व्यवस्था अवश्य ही प्रतिकूल हो जायगी। एक मनुष्य के हाथों में देश का सारा अधिकार है, सारा उत्तरदायित्व है, उसके ऊपर देश का कोई अधिकार नहीं, कोई नियंत्रण नहीं है; तो उस मनुष्य के द्वारा देश में प्रतिकूल शासन होना अनिवार्य है। मानवी प्रकृति सर्वदा सबके साथ लगी रहती है। मनुष्य में स्वार्थ, अभिमान आदि बातें भरी पड़ी हैं। यदि एक ही मनुष्य के हाथ में हम अधिकार और धन संपत्ति दे देंगे और उस पर अपना कोई नियंत्रण नहीं रखेंगे तो वह अवश्य ही स्वेच्छाचारी हो जायगा। इसी प्रकार यदि राजनीतिक क्षेत्र में हमारा शासक होकर कोई स्वेच्छाचारी हो जाता है, तो उसके लिये प्रजा के सुख, प्रजा के हित की चिंताओं को हृदय में स्थान न देना और अपना सुख-साधन तथा स्वार्थपूर्ण कुचेष्टाओं का पूरा करना क्या कोई कठिन कार्य है? अतः देश में अनियंत्रित एकतंत्र शासन-प्रणाली का होना ही प्रतिकूल शासन की नींव है।

अब हम थोड़े में देखेंगे कि क्या हमारे देश में उस समय शासन पर कोई नियंत्रण नहीं था। शासन में नियंत्रण का तात्पर्य यह है कि राजा के शासन-प्रबंध में प्रजा का अधिकार हो। मौर्य काल में सम्राटों के हाथ में धीरे धीरे शक्ति की केंद्रस्थता आरंभ हुई, परंतु फिर भी देश के पूर्व संस्कारों

और प्रचलित नियमों के विरुद्ध जाने का उन्हें न तो कोई अधिकार था और न साहस ही हुआ।

इसलिये राज्य-शासन पर प्रजा द्वारा प्रथम नियंत्रण तो यही था कि राजा प्रचलित नियमों के विरुद्ध न जा सके। और यदि भूत इतिहास पर ध्यान देंगे तो ज्ञात हो जायगा कि देश का प्रचलित नियम अनुकूल शासन-व्यवस्था के पक्ष में था। इसके सिवा पौर जानपदों के अधिकार, मंत्रि-परिषद्, मंत्रि-मंडल आदि ऐसी संस्थाएँ थीं जिनके द्वारा प्रजा का पक्ष सर्वदा सबल रहता था और उसके विरुद्ध राजा को जाने का साहस नहीं होता था। हमें इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलेंगे कि राजाओं को कई बार अपनी इच्छा का त्याग मंत्रि-परिषद् और मंत्रि-मंडल के सामने करना पड़ा था। मंत्रि-परिषद् के बहुमत से तय की हुई बात को उलट देना राजा के अधिकार के बाहर था। साथ ही इन मंत्रियों अथवा मंत्रि-परिषदों के बनाने में भी प्रजा का काफी हाथ था। वही आदमी वास्तव में मंत्री बन सकता था जिस पर प्रजा का अथवा उसकी प्रतिनिधि संस्था पौर जानपदों का विश्वास होता था। हमें ऐसे प्रमाण मिलेंगे कि पौर जानपदों की इच्छा के अनुसार मंत्री बदल दिए गए। राज्याभिषेक अथवा यौवराज्याभिषेक में प्रजा का यथेष्ट हाथ था। इसके अधिकार में यह बात थी कि वह चाहे तो किसी राजकुमार विशेष को युवराज होने से रोक दे।

इन सभी बातों का प्रमाण आज हमारे इतिहास में मिलता है। हम इन बातों को देखते हुए क्या यह नहीं कह सकते कि मौर्य काल में हमारे देश की शासन-व्यवस्था अनुकूल थी और उस पर प्रजा का नियंत्रण था? यह सुंदर और मनुष्योचित शासन-प्रबंध हमें गौरवशील और अपनी सभ्यता का अभिमानी बनाता है।

यदि हम उस काल की आर्थिक स्थिति पर ध्यान देंगे तो पता चलेगा कि सारे संसार पर हमारे व्यापार का प्रभुत्व था। देश में अनेक प्रकार के कला-कौशल का उत्थान हो रहा था, उद्योग धन्धे जारी थे, कृषि होती थी, देश में धनागम था, हम संपत्तिशाली और समृद्ध थे। आज सभ्य संसार व्यापार के द्वारा ही धनी हो रहा है। जिस देश का संसार के बाजार पर जितना ही प्रभुत्व है, जिस देश में आज जितनी ही व्यापारिक सुविधा है, उतनी ही उसकी आर्थिक स्थिति और धन तथा वैभव की दशा समुन्नत है। व्यापारिक प्रभुत्व और व्यापारिक सुविधा प्राप्त करने के लिये देश में सबसे अधिक विदेशी व्यापार के प्रचलित होने की आवश्यकता है जिसके साधन जलमार्ग और भारी जलयानों का निर्माण है।

परंतु आज के दो हजार वर्ष पूर्व की भारतीय आर्थिक स्थिति पर दृष्टि डालने पर हमें आश्चर्य होता है, जब हम देखते हैं कि उस काल में संसार के बाजारों पर हमारा प्रभुत्व था। हमारे देश के बने वस्त्र मिस्र, यूनान आदि देशों में जाया करते

थे; उन का विदेशियों को शौक था; वे उसे चाव से खरीदते थे। व्यापार सुगम करने के लिये समुद्र के तट पर स्थान स्थान पर उत्तम उत्तम बंदरगाह बने हुए थे। नौका-निर्माण होता था, नौकानयन की कला में उन्नति हुई थी, बड़े से बड़े जहाज हमारे देश में बनते थे और उन पर माल लादकर विदेशों में भेजा जाता था।

इन जहाजों की समुद्री डाकुओं से रक्षा करने के लिये मौर्य सम्राट् का एक जहाजी बेड़ा भी था जो समुद्र में पहरा दिया करता था। आज हम इसके न जाने कितने प्रमाण पाते हैं जिनसे सिद्ध हो जाता है कि देश में भारी से भारी जहाज बनते थे, उनका समुद्र में आना जाना होता था, विदेशों से व्यापारिक संबंध स्थापित था, हमारी सुंदर से सुंदर वस्तुएँ बाहर जाती थीं, लोग उन्हें खरीदते थे; और इसके परिणाम-स्वरूप देश में धन और संपत्ति की वृद्धि हुई थी। देश के शासकों का उस पर संरक्षण था; वे उसे उत्साहित किया करते थे।

देश में कृषि की सिंचाई के लिये नहरों का प्रबंध था। स्थान स्थान पर कूपों और जलाशयों का निर्माण होता था जिससे कृषकों को जल का कष्ट न हो। इससे देश की जो आर्थिक स्थिति रही होगी, उसका अनुमान हम सभी कर सकते हैं। आज के दो सहस्र वर्ष पूर्व हम भारतीय विदेशों से नौका द्वारा व्यापार करते थे, इसे विदेशी विद्वान् बहुत दिनों तक मानने को तैयार नहीं थे। वे एक पूर्वीय देश की इस

उच्चता और महत्ता को कैसे मानते ? पर आज उनके सामने ऐसे शतशः प्रबल प्रमाण उपस्थित हैं जिनसे उनको यह बात बाध्य होकर माननी पड़ी है ।

यदि हम अपनी तत्कालीन सामाजिक मनोवृत्ति और सामाजिक दशा पर ध्यान देंगे तो देखेंगे कि हम सुव्यवस्थित और सुसंघटित समाज में रहते थे । हमारे देश पर इस विषय में आक्षेप होता है कि भारतीय समाज सर्वदा से इस प्रकार विभक्त था कि उसकी शक्ति विच्छिन्न रहती थी। परंतु ध्यान देकर विवेचना करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि हमारा समाज उतना ही अधिक एकात्म था जितना संसार के किसी अन्य देश का समाज । हम देखते हैं कि हमारे समाज में जो विभाग था, वह हमें और भी पुष्ट, कार्यक्षम और संघटित बनाता था, न कि विच्छिन्न और दुर्बल । चारों वर्ण विद्यमान थे। उनमें आपस में कार्य बँटे थे । श्रमविभाग (division of labour) का सिद्धांत ही एक रूप में प्रचलित था । जो मनुष्य जिस समाज में, जिस विभाग में पैदा होता था, उस समाज में उसका स्थान उसका जन्म होते ही निश्चित हो जाता था । उसके लिये आगे चलकर 'क्या करना है' इसका प्रश्न पहले से ही निश्चित था । वह अपने उसी निश्चित उद्देश्य के आधार पर सांसारिक जीवन में आगे बढ़ता चलता था और उसे उस विशेष विषय में महत्ता तथा उच्चता प्राप्त करनी होती थी। यही कारण है कि हम उस काल में

प्रत्येक सामाजिक अंग में बड़े से बड़े आदमियों को पाते हैं। परन्तु इस सामाजिक विभाग का यह तात्पर्य कभी नहीं हुआ कि हमारी शक्ति विच्छिन्न हो जाय अथवा हम एक दूसरे से धीरे धीरे दूर होते जायँ। हमारी सामाजिक मनोवृत्ति में वे सभी गुण विद्यमान थे जो किसी समाज की उच्चतम सभ्य अवस्था के द्योतक होते हैं। समाज में पूर्ण रूप से संघटन रखने के लिये, समाज में शांति और सुख स्थापित करने के लिये जिन विचारों की आवश्यकता होती है, वे सभी वर्तमान थे।

देश में—समाज में—चोरी, बेईमानी, धोखेबाजी आदि बातें नहीं के बराबर थीं। मेगास्थनीज के वर्णनों में हम देख सकते हैं कि ताले खुले पड़े रहते थे, लेन देन में गवाही और हैंड नोटों की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। क्या ये बातें किसी समाज की उन्नतावस्था की द्योतक नहीं हैं? हम पहले के पृष्ठों में बतला चुके हैं कि हमारे समाज के समुन्नत, सभ्य, सुखी और सुसंघटित होने का विवरण प्रचुर मात्रा में उपस्थित है। हमारी धार्मिक अवस्था ऐसी थी जैसी संसार के किसी देश को कभी प्राप्त नहीं हुई। भिन्न भिन्न मतों के, भिन्न भिन्न विचारों के आदमी देश में वर्तमान थे। सब को अधिकार था, सबको हक था कि वे अपनी बुद्धि के अनुसार जिन बातों को उचित समझें, कहें और उनके अनुसार चलें। धार्मिक सहिष्णुता जिस मात्रा में हमारे देश में वर्तमान थी,

उससे हमारी सत्य-धर्म-प्रियता और हमारे देश में प्रचलित आर्य सभ्यता की महत्ता प्रकट होती है। बोलने और सुनने की स्वतंत्रता सभी में वर्तमान थी। आज का सभ्य कहलानेवाला युरोप हमारे इस आदर्श को भारत में अति प्राचीन काल में ही विद्यमान देखकर लज्जित है। ईसा ऐसे महात्मा, मुहम्मद ऐसे फकीर भी इन धार्मिक असहिष्णुओं के फेर में पड़कर भयंकर कष्ट के भागी हुए हैं। अपनी प्राचीन सभ्यता की डींग हाँकनेवाले यूनानियों ने भी सुकरात (Socrates) से तत्त्वज्ञाता और सच्चे विचारक का वध जिस तरह से किया, उसे सारा संसार जानता है। युरोप की १५वीं या १६वीं शताब्दी धार्मिक कट्टरपन और धर्म के नाम पर अंधविश्वास के कारण बहाई हुई खून की नदियों के कारण रक्त वर्णा है। परंतु भारतीय आर्य सभ्यता की सुंदर और सुखमय शिक्षाओं के कारण हमारा देश इस कलंक से बच गया। हम मनुष्यता की सीढ़ियों से धर्म के नाम पर नीचे नहीं गिरे।

उसी मौर्य काल में जो संदेश अशोक ने संसार को दिया, वह अद्वितीय है। वह केवल भारतीय धर्म का आधार नहीं है, बल्कि सारे संसार के धर्मों का निचोड़ है, उनका तत्त्व है, सार है। विश्वबंधुत्व की शिक्षा, जीव मात्र पर दया, मनुष्यता और बुद्धि की जिस उपासना का उपदेश अशोक ने संसार को दिया, वह भारतीयों के उन्नत धार्मिक ज्ञान का परिचायक है।

ये हुई हमारी आज से दो सहस्र वर्षों के पूर्व की दशाएं। हम किस स्थान तक पहुँचे थे, हमारी सभ्यता कैसी थी, हम किस सामाजिक दशा में रहते थे, इसका दिग्दर्शन पूर्व के पृष्ठों से भली भाँति हो जायगा।

परंतु जैसा कि हमने कहा है, एक दिन जिसके भाग्य का प्रचंड मार्तंड अपने प्रकाश से दशों दिशाओं को चमका देता है, प्रकाशित कर देता है, उसका वह भाग्य-सूर्य अस्ताचल-गामी होकर रात्रि का भी आह्वान कर देता है।

आज हमारी भी यही दशा हुई। हमारा भाग्य-सूर्य अवश्य ही पश्चिम में डूब गया है। आज ईसा की २० वीं शताब्दी में सारा संसार आगे बढ़ रहा है, सारे संसार में उन्नति और समृद्धि का डंका पीटा जा रहा है, सारे संसार का प्रत्येक देश अपनी अपनी धुन में मस्त है। ऐसे समय हमारा देश, हमारा समाज, सभी इस प्रकार सुप्त है, मानों वह अपने भूत के परिश्रम से क्लान्त होकर अपनी थकावट मिटा रहा है। संभव है, हमारी सभ्यता इतनी प्राचीन हो गई हो कि वह अपनी जर्जर देह लेकर अब संसार की इन नई नवेली सभ्यताओं के सामने खड़ी न हो सकती हो और न उनके साथ तेजी से दौड़ सकने की ही सामर्थ्य रखती हो।

हमारा राजनीतिक जीवन इस प्रकार पतित हो गया है कि हमारे देश में आज विदेशियों का शासन वर्तमान है। हमारा जो देश दूर दूर के दूसरे देशों को भी अपनी शक्ति का

परिचय दिया करता था, हमारे जिस देश के सामने सिकंदर और सिल्यूकस को भी हारना तथा भय खाना पड़ा था, जिसने संसार में अपनी प्रबल शक्तिमत्ता का एक बार पूरा परिचय दिया था, वही आज दूसरों के द्वारा इस हीनावस्था में शासित हो रहा है कि आज के सभ्य युग में अपना मुख भी दिखलाने योग्य नहीं।

आर्थिक स्थिति पर दृष्टि डालने पर भी हम अपनी दुरवस्था का ज्ञान प्राप्त करते हैं। हमारा वाणिज्य गया, व्यवसाय गया, हमारे उद्योग-धंधे नष्ट हुए, हम गरीब हो गए, निर्धन हो गए। जिन अनुचित उपायों द्वारा हमारा व्यापार, हमारा उद्योग-धंधा नष्ट किया गया, वह सबको मालूम है, उसके वर्णन की यहाँ आवश्यकता नहीं। हमारा केवल यही व्यापार रह गया कि हम अन्न उत्पन्न करें, उसके लिये मरें, उसके लिये दुःख उठावें, पर वह तैयार होने पर सब की सब इस प्रकार हमारे हाथों से निकल जाय कि हम भूखों मरें और दुखी रहें। जो भारतवर्ष विदेशों से धन लाकर समृद्ध होता था, वही आज अपने आधे से अधिक बच्चों को एक समय भी पेट भर भोजन नहीं दे सकता। हमारी सामाजिक स्थिति क्या है? हम सब एक दूसरे से विभक्त हो गए हैं। जहाँ सारा संसार अपनी अपनी राष्ट्रीयता और एकात्मता का राग अलाप रहा है, वहाँ हम भारतीय, जो विश्वबंधुत्व का दावा किया करते थे, अपने ही भाइयों से इस प्रकार अलग हो रहे हैं

जैसे तेल से पानी। हम अपने ही हाथों अपना शरीर काट-कर अलग कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में हमारी शक्ति और हमारी महत्ता का लोप न होगा तो क्या होगा? आज हम भारतीय नहीं हैं, हम मनुष्य नहीं हैं, हम ब्राह्मण हैं, हम क्षत्रिय हैं, हम सरयूपारी हैं, हम कनौजिया हैं। सारा संसार आज हमारी इस मूर्खता पर हँसता है और स्वार्थी तथा कुटिल लोग हमारी इस हीनता से लाभ उठाते हैं। यह है हमारी सामाजिक दशा!

धार्मिक स्थिति पर दृष्टि डालने से पता लगता है कि हममें धर्म के स्थान पर दुराग्रह आ बैठा है। जिस सहि-ष्णुता और बुद्धिमत्तापूर्ण धर्म का प्रमाण हमारा प्राचीन इति-हास देता है, हम उसके बिलकुल विपरीत जा रहे हैं। आज हम बुद्धि के बल पर किसी बात को मानने को तैयार नहीं, न तो किसी के द्वारा बतलाने पर अपनी मूर्खता पर ध्यान देते हैं। देश भाड़ में जाय, समाज का नाश हो जाय, हमारा लोप हो जाय, पर हमारे धर्मध्वजों के कान पर जूँ भी नहीं रेंगती और वे अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाते हुए अपने ही हाथों अपने पाँव में कुल्हाड़ी मारते हैं। धर्म आज समाज को उन्नत करने के स्थान में पतन की ओर ले जा रहा है। धर्म के सत्य तात्पर्य पर, धर्म की आत्मा पर दृष्टि नहीं डाली जाती। केवल धर्म के निर्जीव शरीर से, उसके बाह्याडंबर से आज हम इस प्रकार गुड़ च्यूँटे के समान चिपटे हैं कि

चाहे हमारी गर्दन कट जाय, पर उसे छोड़ नहीं सकते। इस प्रकार हर विषय में हर प्रकार से हम हीनावस्था की ओर जा रहे हैं। आज हम यह सब देख रहे हैं, पर इससे हताश होने की हमें आवश्यकता नहीं है। अपने प्राचीन गौरव के नाम पर, मनुष्यता के नाम पर जीवन-संग्राम में लड़ने के लिये तत्परता और वीरता के साथ रणभूमि में उतरना चाहिए। आज हमें अपनी ऐसी सेना बनाने की आवश्यकता है जो एक बार भारतवर्ष को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने के लिये जीवन-युद्ध में प्रबल वीरता का परिचय दे और अपने उद्देश्य की पूर्ति की चेष्टा करे। हमारे जिन दोषों के कारण, हमारी जिन मूर्खताओं के कारण, यह पतन आरंभ हुआ है, उसे दूर करके नवीन सृष्टि करना ही इस समय हमारा धर्म है और इसी से हमारा उपकार होगा। हमें लकीर के फकीर बने रहने की आवश्यकता नहीं है। अपनी दृष्टि खोलकर, संसार की तरफ देखकर आगे बढ़ने की चेष्टा करना ही हमारे रोग की रामबाण ओषधि है।

केवल अपने प्राचीन इतिहास की गाथाएँ सुनकर और उनके द्वारा संतुष्ट तथा गौरवान्वित होने से ही हमारा कार्य नहीं चल सकता। हमें तो इसका पता लगाना है कि उसके इतिहास में कौन सी शक्ति थी और उसी शक्ति को अपनी सुविधा के अनुकूल अपने साँचे में ढालना है और अपना कार्य पूरा करना है।

परमात्मा करे वह दिन शीघ्र आवे, जब हम भारतवासी स्वतंत्र होकर अपने दोषों और पापों को दूर करके तप्त सुवर्ण के समान निकलें और संसार के सम्मुख अपने प्राचीन इतिहास का सम्मान करते हुए मस्तक ऊँचा करके चल सकें, अपने को संसार की अन्य जातियों में गौरवान्वित कर सकें तथा अपना प्राचीन (परंतु संसार के लिये नवीन) संदेश सुना सकें, जिससे संसार का कल्याण हो और भारतीय सभ्यता की महत्ता और शालीनता प्रकट हो।

परिशिष्ट (क)

कौटिलीय अर्थशास्त्र का काल और उसका प्रणेता

मौर्यकालीन भारत के इतिहास पर 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' के द्वारा ही अत्यधिक प्रकाश पड़ता है। परंतु डा० जोली (Dr. Jolly) प्रभृति कुछ विद्वानों ने यह विवाद उठाया है कि कौटिलीय अर्थशास्त्र का लेखन काल न तो मौर्य काल है और न उस ग्रंथ का लेखक ही चंद्रगुप्त मौर्य का मंत्री कोई कौटिल्य है। डा० जोली ने "कौटिल्य का अर्थशास्त्र" (Arthasastra of Kautilya) नामक अपने ग्रंथ की भूमिका में अपने इस मत की पुष्टि में अनेक युक्तियाँ दी हैं। उन युक्तियों के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' का लेखन काल ईसा की मृत्यु के तीन शताब्दी पश्चात् का है।

डा० जोली के इस मत का खंडन श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल ने अपने 'हिंदू पालिटी*' नामक ग्रंथ के 'परिशिष्ट ग' (Appendix C) में किया है। उन्होंने डा० जोली के तर्कों का उत्तर देते हुए इस मत के संपादन में प्रबल तर्कों द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि 'अर्थशास्त्र' का लेखन

* इस ग्रंथ के पहले भाग का हिंदी अनुवाद काशी नागरीप्रचारिणी सभा की सूर्यकुमारी-पुस्तकमाला में प्रकाशित हो गया है।

काल ईसा के चार शताब्दी पूर्व है और उसका लेखक भी कौटिल्य नामक ब्राह्मण ही है जो चंद्रगुप्त का मंत्री था।

इस ग्रंथ के लेखक को तो श्रीकाशीप्रसाद जायसवालजी का ही मत मान्य है। परंतु विद्वान् पाठकों के लिये यह उचित समझा गया कि दोनों विद्वानों के मत और उनके तर्क जैसे के तैसे उनके सम्मुख उपस्थित कर दिए जायँ और अपनी विवेचनात्मक बुद्धि के सहारे जो मत उन्हें मान्य हो, उसे ही वे मानें। अतः डा० जोली का मत पहले दिया जाता है।

डा० जोली ने अर्थशास्त्र की तिथि के संबंध में अपना मत यह स्थिर किया है कि संभवतः ईसा की तीसरी शताब्दी में अर्थशास्त्र लिखा गया है*।

इस मत की पुष्टि में प्रथम युक्ति जो वह देते हैं, यह है—

(१) संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भास और कौटिल्य दोनों ने "नवं शरावं" इत्यादि एक पद का उल्लेख किया है। परंतु कौटिल्य ने अपने ग्रंथ में उसे कहीं से उद्धृत किया है। ऐसी अवस्था में यह ज्ञात होता है कि कौटिल्य ने उसे भास से ही लिया होगा जिसका काल ईसा की तीसरी शताब्दी है। अतः कौटिल्य का काल भी ईसा की तीसरी शताब्दी के बाद का ही होगा। (पृ० १०)

(२) उनकी दूसरी युक्ति यह है कि याज्ञवल्क्य और कौटिल्य के नियमों में बड़ी समानता है और कौटिल्य ने याज्ञ-

* Arthasastra of Kautilya. Introduction पृ० ४३.

वल्क्य के नियमों को ही लेकर सूत्रों में परिवर्तित कर दिया है। अतः कौटिल्य याज्ञवल्क्य से अवश्य परिचित रहे होंगे; और याज्ञवल्क्य का काल भी ईसा की तीसरी शताब्दी का है। (पृ० १७)

(३) महाभाष्य में पतंजलि ने कहीं अर्थशास्त्र का नामोल्लेख नहीं किया है, यद्यपि उन्होंने चंद्रगुप्त और उनकी सभा आदि का नाम लिया है। (पृ० ३०)

(४) महाभारत के राजधर्म और धर्मशास्त्रों में किए गए वर्णनों से अर्थशास्त्र की व्यवस्था बहुत अधिक उन्नत तथा उच्च है; अतः वह ग्रंथ अधिक पुरातन अर्थात् ईसा के पूर्व का नहीं हो सकता। (पृ० ३०)

(५) अर्थशास्त्रकार पुराण, महाभारत तथा संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रंथों से परिचित ज्ञात होता है और उनका उल्लेख भी स्थान स्थान पर उसने, अपने ग्रंथ में, किया है। इस कारण से भी यह ग्रंथ ईसा के पूर्व का नहीं हो सकता, क्योंकि पुराणादि अधिक प्राचीन नहीं हैं। (पृ० ३२)

(६) कामशास्त्र के वैशिक खंड का भी उल्लेख कौटिल्य ने किया है। (पृ० ३२)

(७) अर्थशास्त्र में संस्कृत व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग है और कौटिल्य को अष्टाध्यायी का भी ज्ञान था, ऐसा मालूम होता है। (पृ० ३२)

(८) अर्थशास्त्र-प्रणेता को ज्योतिष का भी ज्ञान था और उसने दो नक्षत्रों का नामोल्लेख भी किया है। (पृ० ३२)

(६) धातुविद्या पर 'शल्यधातुशास्त्र' नामक एक पुस्तक है जिसका उल्लेख अर्थशास्त्र के लेखक ने किया है। (पृ० ३२)

(१०) अर्थशास्त्र में खनिज विद्या, शिल्प, रसायन, जवाहिरात आदि विषयों पर भी बड़ा प्रकाश डाला गया है। डा० जोली के मतानुसार इन विषयों का ज्ञान राजनीतिक शास्त्र की अति उन्नतावस्था का द्योतक है। इस कारण भी अर्थशास्त्र का निर्माण-काल प्राचीन नहीं माना जा सकता। (पृ० ३३)

(११) मुद्राराक्षस नामक ग्रंथ में जिस राक्षस मंत्री का वर्णन है वह काल्पनिक है, अतः कौटिल्य भी काल्पनिक ही होगा। यूनानियों ने कहीं कौटिल्य का नामोल्लेख नहीं किया है। नए राजवंश के उत्थान के कारण नई नई कथाएँ भी बन गई होंगी, अतः यह कथा मात्र हो सकती है कि चंद्रगुप्त के किसी मंत्री कौटिल्य ने इस ग्रंथ की रचना की है। (पृ० ३४)

(१२) कौटिल्य ने अपने ग्रंथ में रसायन (ताँबा आदि धातुओं से बनाने) का भी वर्णन किया है। पर इस विद्या की विवेचना भारतवर्ष में, डाक्टर जोली के मतानुसार, बहुत दिनों बाद ग्रीकों इत्यादि के संपर्क

द्वारा हुई है। इस कारण भी अर्थशास्त्र बहुत बाद का है। (पृ० ३४)

(१३) कौटिल्य ने खान के लिये सुरंग शब्द का प्रयोग किया है। डाक्टर साहब का कहना है कि यह ग्रीक शब्द 'सीरिंक्स' (Syrinx) से लिया गया है। अतः यह ग्रंथ यूनानियों के आने के बहुत बाद का होगा। (पृ० ३४)

(१४) मेगास्थनीज के भारतवर्षीय वर्णन और अशोक के लेखों के द्वारा भारतीय समाज की जिस अवस्था का परिचय मिलता है, उससे कहीं उन्नतावस्था का वर्णन अर्थशास्त्र में है। धातु-विद्या, खनिज-विद्या आदि का बड़ा ही उत्तम वर्णन है। धातु द्वारा सिक्कों का बनाया जाना, सामुद्रिक खानों का वर्णन, आभूषणों और जवाहिरात के वर्णन आदि ऐसे विषय हैं जिनका मौर्य काल में इतनी उन्नतावस्था में पहुँचना असंभव सा है। साथ ही मेगास्थनीज ने लिखा है कि भारतवर्ष में केवल पाँच प्रकार के ही धातु उत्पन्न किए जाते हैं, और स्ट्रैबो ने लिखा है कि खनिज विद्या और धातु गलाने की विद्या में भारतीय अनुभवहीन हैं। ऐसी अवस्था में अर्थशास्त्र के वर्णन ही उसे ईसा के पूर्व के होने देने में बाधक हैं। (पृ० ३५)

(१५) अर्थशास्त्र में लिखित राजाज्ञाओं आदि का वर्णन है और मेगास्थनीज लिखता है कि भारतीय लेखन-कला से अनभिज्ञ हैं। (पृ० ३५)

(१६) मेगास्थनीज ने उन राजकरों का वर्णन नहीं किया है जिनका उल्लेख अर्थशास्त्र में है; जैसे जूए पर कर, मादक वस्तु पर कर इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि मेगास्थनीज और कौटिल्य में असमानता है। ऐसी अवस्था में अर्थशास्त्र मेगास्थनीज का समकालीन नहीं हो सकता। (पृ० ३५)

(१७) मेगास्थनीज के वर्णन में जहाँ कौटिल्य के वर्णन से समानता है, उसके विषय में डाक्टर साहब का कथन है कि उससे यह सिद्ध नहीं होता कि अर्थशास्त्र का रचयिता मेगास्थनीज का समकालीन है; क्योंकि अर्थशास्त्र की समानता तो चीनी यात्रियों और अल-बेरूनी के भारतवर्षीय वर्णन से भी है। तो क्या कौटिल्य चीनी यात्रियों अथवा अलबेरूनी के सम-कालीन समझे जायँगे? (पृ० ४२)

(१८) कौटिल्य ने अपने ग्रंथ में पाटलिपुत्र का नाम नहीं दिया है। और ग्रंथकार के भौगोलिक वर्णन से ज्ञात होता है कि उसे दक्षिण का पूरा ज्ञान था। संभवतः वह पुस्तक दक्षिण में ही लिखी गई होगी और दक्षिण में ही वह प्राप्त भी हुई है। (पृ० ४५)

संक्षेप में उपर्युक्त तर्कों के द्वारा डाक्टर जौली महोदय ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि अर्थशास्त्र की तिथि ईसा की तीसरी शताब्दी है। अब जिन तर्कों के द्वारा कौटिल्य का ग्रंथकार होना वे अस्वीकार करते हैं, उन्हें भी संक्षेप में दे दिया जाता है—.

(क) कथाओं से कौटिल्य का उपदेशक वा ग्रंथकार होना कहीं किसी प्रकार नहीं पाया जाता।

(ख) मेगास्थनीज ने कहीं कौटिल्य का नामोल्लेख नहीं किया है।

(ग) कौटिल्य के अपने समकालीन होने की बात अपने भारतवर्षीय वर्णन में कहीं मेगास्थनीज ने नहीं लिखी और न उसके लेख से कहीं पता ही चलता है कि कौटिल्य उसके समय में था।

(घ) पतंजलि ने अपने महाभाष्य में कहीं कौटिल्य का नाम नहीं लिखा है।

(च) कौटिल्य एक काल्पनिक नाम मालूम होता है जिसके द्वारा धूर्तता और असत्यता का भाव प्रकट होता है। ऐसा अनुचित नाम चंद्रगुप्त मौर्य का मंत्री स्वयं अपने लिये रखेगा, यह असंभव प्रतीत होता है।

(छ) सारे ग्रंथ की रचना इस प्रकार की है कि वह उन पण्डितों द्वारा ही रचा हुआ ज्ञात होता है जिन्होंने

अन्य शास्त्रों की रचना की है। उस ग्रंथ की रचना किसी राजनीतिक पुरुष ने नहीं की है।

अतः उसका वास्तविक लेखक कोई बड़ा विद्वान् मात्र ही ज्ञात होता है, न कि कोई बड़ा राजनीतिक नेता। संभव है, वह विद्वान किसी छोटे मोटे राज्य का कोई बड़ा कर्मचारी भी रहा हो। इस पुस्तक के लेखक का नाम कौटिल्य या चाणक्य से संबद्ध कर देने का यह तात्पर्य हो सकता है कि उस काल में यह कथा प्रचलित थी, और लोगों को विश्वास रहा होगा, कि नंदों का ध्वंस करनेवाला कौटिल्य सारी राजनीति और राजनीतिक शास्त्र के सिद्धांतों का उत्पादक तथा लेखक था। अतः पुस्तक की महत्ता बढ़ाने के लिये उस पर कौटिल्य का नाम दिया जा सकता है*।

यह डाक्टर जोली के सिद्धांतों और तर्कों का सारांश है। अब हम श्रीजायसवालजी के उन तर्कों का उल्लेख भी संक्षेप में करते हैं जिनके द्वारा उन्होंने क्रम से डाक्टर जोली की इन समस्त युक्तियों का खंडन करते हुए इस मत का प्रतिपादन किया है कि अर्थशास्त्र की तिथि ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी है; और उसका लेखक कौटिल्य चंद्रगुप्त का मंत्री था। श्रीजायसवाल ने 'हिंदू पालिटी' (Hindu Polity) के 'परिशिष्ट ग' में अपने तर्क जिस प्रकार दिए हैं, उन्हीं का सारांश यहाँ दिया जाता है :

---

* Introduction; Arthasastra of Kautilya, page 47 by Jolly.

डाक्टर जोली के पहले तर्क के उत्तर में जायसवाल महोदय का कहना है कि—

(१) "नवं शराव" इत्यादि पद युद्ध में सैनिकों के उत्साह-वर्धन के लिये लिखे गए हैं। सैनिकों का उत्साह वर्धन तो उतना ही प्राचीन है जितना कि इतिहास। यह पद इस विश्वास पर अवलंबित है और इसी को पुन: जगाने के लिये लिखा गया है कि अविश्वासी सैनिक नरकगामी होंगे। यदि विचार करके देखा जाय तो यह सिद्ध हो जाता है कि कौटिल्य का भास से उसे लेना संभव नहीं था। यदि लिया भी गया होगा तो किसी अन्य पुस्तक से अथवा तत्कालीन समाज में प्रचलित किसी पद से। कौटिल्य ने दो पद उद्धृत किए हैं जिनमें 'नवं शराव' दूसरा पद है। बिना प्रथम पद के वह अपूर्ण रह जाता है। और भास ने केवल दूसरे पद का ही उल्लेख किया है। अत: यह कैसे कहा जा सकता है कि कौटिल्य ने भास से उद्धृत किया है? यह प्राय: असंभव सा है।

(२) दूसरे तर्क के उत्तर में उनका कहना है कि 'यह सत्य है कि कौटिल्य और याज्ञवल्क्य के नियमों में समानता है। परंतु अर्थशास्त्र में ऐसे पद मिलते हैं जिनके द्वारा उसका याज्ञवल्क्य के पूर्व होना निश्चय हो जाता है। कौटिल्य ने 'युक्त' शब्द का प्रयोग राजकर्म-

चारी के अर्थ में किया है। अशोक के लेख में यह 'युक्त' शब्द 'युत' के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'युत' शब्द का अर्थ तब तक किसी की समझ में नहीं आया था जब तक अर्थशास्त्र का पता नहीं चला था; क्योंकि इस शब्द का प्रयोग ही अर्थशास्त्र के बाद के साहित्य में उठ सा गया था और याज्ञवल्क्य स्वयमेव कौटिल्य के 'युक्त कर्मचायुक्तस्य' का तात्पर्य नहीं समझ सके थे। अत: उन्होंने कौटिल्य के इस पद को न समझकर 'अयोग्यो योग्य कर्मकृत्' का प्रयोग किया है जिसका अर्थ ही भिन्न है। कौटिल्य के पद का अर्थ है कि एक 'गैर सरकारी द्वारा सरकारी कार्य'* । और याज्ञवल्क्य का अर्थ है "एक अयोग्य द्वारा वह कार्य किया जाना जो किसी योग्य के द्वारा होना चाहिए था"। इतने बड़े भेद को डा० जोली नाम मात्र का भेद बतलाते हैं; पर यह मान्य नहीं हो सकता। विचारने पर यही निश्चय होता है कि याज्ञवल्क्य ने कौटिल्य के नियमों को अपनाया है और कहीं कहीं किसी स्थान पर प्राचीन शब्दों को, जो उस काल में व्यवहृत नहीं होते थे, नहीं समझ सके हैं। और यदि कौटिल्य को याज्ञवल्क्य से ही नियमों को लेना होता

* Introduction of Arthasastra page 10, by Shamasastry, edition first .

तो वह सूत्र क्यों लिखता, पद ही लिख देता। वास्तव में सूत्रों को श्लोक का रूप याज्ञवल्क्य ने दिया है और वे सूत्र कौटिल्य से लिए गए होंगे। अतः याज्ञवल्क्य ईसा की तीसरी शताब्दी में थे और उन्होंने कौटिल्य के युक्त शब्द का अर्थ इस कारण से नहीं समझा कि वह शब्द प्राचीन था और उस काल में व्यवहृत नहीं होता था। ऐसी अवस्था में अर्थशास्त्र का ईसा की तीसरी शताब्दी के कई सौ वर्ष पूर्व होना ही माना जायगा।

(३) तीसरे तर्क का उत्तर यह है कि पतंजलि को अर्थशास्त्र के नामोल्लेख का कोई अवसर न मिला और न आवश्यकता प्रतीत हुई होगी; इस कारण वह नहीं लिखा गया होगा। पतंजलि ने न जाने कितने वैदिक ग्रंथों का भी नामोल्लेख नहीं किया है; पर इस कारण यह सिद्ध नहीं होता कि वे ग्रंथ थे ही नहीं। पतंजलि कोई साहित्य का इतिहास लिखने नहीं बैठे थे कि तमाम ग्रंथों का नामोल्लेख करते।

(४). जायसवाल महाशय का कथन है कि किसी ग्रंथ का किसी ग्रंथ से किसी अंश में कम होना अथवा उच्च होना उस ग्रंथ की तिथियों को नहीं बदला करता। उनका कहना है कि डा० जोली के बाद के बहुत से टैगोर लेक्चर उनके ग्रंथों से बहुत नीची श्रेणी के हैं। ऐसी अवस्था में यह सिद्ध तो नहीं हो जाता कि वे लेक्चर

डा० जोली के पूर्व के हैं। धर्मशास्त्रों में पहले तो धार्मिक नियमों का उल्लेख है न कि राजनीति-विज्ञान का। यदि मान भी लिया जाय कि वे ग्रंथ अर्थशास्त्र से निम्नश्रेणी के हैं, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अर्थशास्त्र उनके बाद का होगा। तथापि महाभारत के राजधर्म में जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है, वे अर्थशास्त्र से कहीं ऊँची श्रेणी के हैं। ऐसी अवस्था में इस तर्क से उसके लेखन-काल की तिथि आगे नहीं बढ़ाई जा सकती।

(५) पुराणों की जानकारी से भी अर्थशास्त्र की तिथि नहीं घटती। आपस्तंब आदि अति प्राचीन धर्म-सूत्रों में पौराणिक साहित्य का पता मिलता है। आपस्तंब ने भविष्य पुराण का नामोल्लेख किया है। पार्जिटर के अन्वेषणों ने भविष्य पुराण का समय अति प्राचीन बताया है। पुराणों का काल छान्दोग्योपनिषद् का काल माना गया है। अतः अर्थशास्त्र-कार को पुराणों का ज्ञान होना न तो कोई आश्चर्य की बात है और न उसकी तिथि ही इससे घटती है।

(६) कामशास्त्र का वैशिक खंड पाटलिपुत्र में दत्तक ने वात्स्यायन के पूर्व ही लिखा था। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि ईसा के ४०० वर्ष पूर्व वैशिक पर कोई ग्रंथ ही नहीं लिखा गया।

(७) पाणिनि की जानकारी होना यह सिद्ध नहीं करता कि अर्थशास्त्र ईसा के तीन शताब्दी पूर्व का नहीं है। और साथ ही अपाणिनीय प्रयोग भी अर्थशास्त्र में मिलते हैं जिनसे यह पता चलता है कि पाणिनीय प्रयोगों का उतना प्रभाव अर्थशास्त्र काल में नहीं था जितना पतंजलि या उनके बाद हुआ है। यह भी अर्थशास्त्र की प्राचीनता ही सिद्ध करता है।

(८) अर्थशास्त्र में दो नक्षत्रों के नामोल्लेख के कारण उसकी तिथि घटाई नहीं जा सकती। वास्तव में ग्रीक ज्योतिष ने अथवा बाद में भारतीय साहित्य में जिस प्रकार ज्योतिष ने नक्षत्रों का वर्णन किया है, वैसा अर्थशास्त्र में नहीं मिलता। यह भी अर्थशास्त्र की प्राचीनता को ही सिद्ध करता है। धातु-विद्या का ज्ञान भारतवर्ष में पुराना है। यजुर्वेद में सात प्रकार के धातुओं का वर्णन है। ताँबा, चाँदी, लोहा, सीसा इत्यादि का ज्ञान और मुद्राओं का बनना चंद्रगुप्त और सिकंदर के बहुत पूर्व से ही भारत में विद्यमान था। इसका प्रमाण आज की वे वस्तुएँ हैं जो पाटलिपुत्र आदि स्थानों में पाई गई हैं।

(९—१०) यदि अर्थशास्त्र के पूर्व देश में विज्ञान साहित्य की अवस्था उन्नत थी और ग्रंथ विद्यमान थे तो उनका उद्धरण किया जाना स्वाभाविक था। यदि अर्थशास्त्र

या सिकंदर के आक्रमण के पूर्व खनिज, शिल्प, रसायन आदि के संबंध में वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द थे तो उनका लिखा जाना भी आवश्यक था। ऐसी अवस्था में, इस कारण से कि उन शब्दों का प्रयोग कौटिल्य ने किया है, उसकी तिथि नहीं घटती।

(११) यह अभी तक सिद्ध नहीं किया गया है कि 'राचस' मंत्री केवल काल्पनिक है। तथापि यदि यह मान लिया जाय कि वह काल्पनिक है तो यह भी मान लेना कि कौटिल्य भी काल्पनिक ही होगा, कोई तर्क नहीं है। ग्रीकों ने कौटिल्य का नामोल्लेख नहीं किया अतः कौटिल्य था ही नहीं, यह कोई तर्क नहीं है। किसी का नामोल्लेख किसी के द्वारा न किया जाना उस मनुष्य का अस्तित्व नहीं मिटा सकता। इसके अलावा ग्रीकों के संपूर्ण ग्रंथ भी कहाँ प्राप्त हैं? मेगास्थनीज का ही पूरा ग्रंथ कहाँ प्राप्य है कि यह निष्कर्ष निकाल लिया जाय कि ग्रीकों ने नामोल्लेख किया ही नहीं?

(१२) रसायन विज्ञान (कीमिया Alchemy) का भी वर्णन कौटिल्य ने किया है। डा० जोली का मत है कि इसकी उत्पत्ति भारत में बहुत बाद हुई है परंतु डा० जोली यह हिंदू सिद्धांत जानते हैं कि इस विज्ञान की उत्पत्ति भारत में ईसवी सन् से पूर्व ही हो चुकी है। परंतु यह अभी तक सिद्ध नहीं हो सका है कि इस

विज्ञान ने पहले पहल कहाँ जन्म लिया। बाद के भारतीय साहित्य के द्वारा हमें यह पता लगता है कि इसका संबंध कुस्तुंतुनिया से है। यदि हम अर्थ-शास्त्र को बाद के रसायन (कीमिया) विज्ञान से संबद्ध करें तो यह मानना पड़ेगा कि अर्थशास्त्र का काल मुसलमानी काल है। इसलिये जाली महोदय को यह बात सिद्ध करने की चेष्टा करनी पड़ी कि यह ग्रीस से आई है और उन्होंने उसका काल ईसा की पहली शताब्दी माना। परंतु इसका कोई प्रमाण नहीं दिया गया कि यह विद्या भारत में नहीं थी और भारतीयों ने इसे ग्रोस से ही लिया है। अस्तु; यह सिद्धांत ही कि यह विज्ञान भारत में ईसा की तीसरी शताब्दी के पहले विद्यमान था, यह सिद्ध करता है कि यह अरब से नहीं आया। यह भारत में पहले से ही विद्यमान था, चाहे वह भारतीय ही रहा हो अथवा विदेश से आया हो। इससे अधिक इस विषय में और कुछ नहीं कहा जा सकता।

(१३) कौटिल्य के 'सुरंग' शब्द के प्रयोग पर डाक्टर साहब का यह आक्षेप है कि यह ग्रीक शब्द 'सिरिंक्स' (Syrinx) से लिया गया है। श्रीजायसवाल का कहना है कि यदि यह मान लिया जाय तो इससे अर्थशास्त्र की तिथि नहीं घटती बढ़ती। 'कारण

कि कौटिल्य सिकंदर के आक्रमण के समय और उसके बाद भी था। ऐसी अवस्था में उस शब्द का प्रयोग कौटिल्य कर सकता है।

(१४) ग्रीकों की इस धारणा का कोई मूल्य नहीं है कि भारतीय मौर्यकाल में धातु गलाने की प्रथा से अनभिज्ञ थे। क्योंकि आज दिन हमें मौर्यकालीन तथा मौर्य काल से भी पूर्व के मुद्रा, आभूषण, मुहर इत्यादि प्राप्त हो रहे हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि विदेशियों की यह धारणा सर्वथा भ्रमपूर्ण है। स्वयं यजुर्वेद में सात प्रकार के धातुओं का वर्णन है। अतः अर्थशास्त्र में धातु-विद्या का वर्णन किसी प्रकार उसकी तिथि नहीं घटाता।

(१५) कौटिल्य ने लेखन कला की भी चर्चा की है; अतः डा० जोलो अर्थशास्त्र की प्राचीनता में संदेह करते हैं। उनका विचार है कि मौर्य काल के आरंभ में भारत में लिखने की विद्या नहीं थी। परंतु मेगास्थनीज ने स्वयं लिखा है कि सड़कों पर मील के अंकित पत्थर लगे थे; रजिस्टर थे जो सड़कों की दूरी की जानकारी के लिये रखे रहते थे। जातकों ने मुहरों का वर्णन किया है। इनके उपरांत अशोक के लेख हैं जो सारे देश में फैले थे और इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि लिखने की विद्या भारत में बहुत पहले से वर्तमान थी। अन्यथा यह कभी संभव नहीं कि सारे देश में लिखने

का ज्ञान सिकंदर के आक्रमण-काल से लेकर अशोक के राज्यकाल तक में ही हो गया हो। बिंदुसार ने ग्रीक राजाओं के पास पत्र भी लिखे थे।

(१६) मेगास्थनीज ने बिकी हुई वस्तुओं पर के कर का वर्णन किया है। इसमें अर्थशास्त्र में वर्जित चुंगी और साधारण करों का समावेश हो जाता है। साथ ही साथ मेगास्थनीज के संपूर्ण ग्रंथ के न मिलने से यह भी निश्चय नहीं किया जा सकता कि उसने ठीक ठीक क्या लिखा है।

(१७) यदि मेगास्थनीज और कौटिल्य की समानता से यह सिद्ध नहीं होता कि कौटिल्य उसका समकालीन था, तो उसकी असमानता से भी यह सिद्ध नहीं होता कि वह उसका समकालीन नहीं था।

(१८) पाटलिपुत्र का नामोल्लेख न करने से कोई बात सिद्ध नहीं होती। यदि दक्षिण के व्यापारिक मार्ग का वर्णन करने से ही कौटिल्य दक्षिणीय समझा जाय, तो उत्तर में काशी, नेपाल, कुकुर, लिच्छवि, मल्ल, कांबोज, कुरु, पांचाल, सुराष्ट्र, मद्र आदि उत्तरी राज्यों का वर्णन करने से उत्तरीय भी समझा जा सकता है।

इन उपर्युक्त तर्कों के द्वारा श्रीजायसवाल ने डा० जोली के समस्त आक्षेपों का क्रमशः खंडन करते हुए अपने मत का प्रतिपादन किया है। कुछ तर्क और उल्लेखनीय हैं जो उन्होंने

अपने मत की पुष्टि में दिए हैं। उनका भी सारांश नीचे द दिया जाता है।

(क) अर्थशास्त्र में "युक्त" शब्द का प्रयोग होना यह सिद्ध करता कि वह ग्रंथ मौर्यकालीन है; क्योंकि इस शब्द का प्रयोग उसी काल में हुआ था, उसके बाद नहीं। प्रजातंत्रात्मक अथवा बहुतंत्रात्मक शासन-प्रणालियों की ओर जिस नीति को, संचालित करने का प्रतिपादन कौटिल्य ने किया है, वह भी मौर्य सम्राट् के लिये ही किया है। उन शासन-प्रणालियों की भौगोलिक स्थिति भी, जिनका वर्णन अर्थशास्त्र ने किया है, मौर्य काल में ही थी; क्योंकि मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद अथवा ईसा की पहिली और दूसरी शताब्दी में न तो कोई ऐसा साम्राज्य ही था जिसमें विदेह से अफगानिस्तान तक की विस्तृत भूमि रही हो और न इतना प्रबल कोई शासक ही था जिसके लिये उस नीति का प्रतिपादन किया गया हो।

(ख) शाक्यों और आजीवकों की जिस निम्न स्थिति का वर्णन अर्थशास्त्र में है, वह चंद्रगुप्त मौर्य के ही काल में रही होगी। अशोक और उसके उत्तराधिकारियों ने अपने काल में उसकी उन्नति की है।

(ग) जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण साहित्य में यह मिलता है कि कौटिल्य चंद्रगुप्त का मंत्री था। जैन तथा बौद्ध साहित्य

में कौटिल्य का वर्णन धन पैदा करनेवाले युद्धप्रिय मनुष्य हिंसक रूप में है; और पुराणों ने उसे एक बहुत योग्य मंत्री बताया है। अत: एक काल्पनिक मनुष्य के लिये ऐसी विरोधात्मक टिप्पणियों का होना असंभव है। अत: उसका अस्तित्व सिद्ध है। अब यदि अर्थशास्त्र से यह प्रत्यक्ष है कि यह कौटिल्यप्रणीत ग्रंथ है तो कोई कारण नहीं कि यह न माना जाय कि अर्थशास्त्र कौटिल्य का बनाया हुआ है और मौर्य काल ही उसका लेखन-काल है।

(घ) यदि पुराणों पर विश्वास किया जाता है, उनका यह मत माना जाता है कि चंद्रगुप्त मौर्य थे, तो यह क्यों न माना जाय कि कौटिल्य भी वर्तमान थे और सम्राट् चंद्रगुप्त के मंत्री थे ?

इस प्रकार से श्री जायसवाल ने कौटिल्य द्वारा प्रणीत अर्थशास्त्र की तिथि और उसके लेखक के अस्तित्व पर प्रकाश डाला है। अब जिस प्रकार उन्होंने डाक्टर जोली के उन तर्कों का उत्तर दिया है जिनमें उन्होंने कौटिल्य के ग्रंथकार होने में संदेह प्रकट किया है, उसका वर्णन भी कर दिया जाता है।

डा० जोली के तर्कों का उल्लेख पूर्व के पृष्ठों में किया जा चुका है। अब श्रीजायसवाल ने जिस प्रकार क्रमश: उन युक्तियों का खंडन किया है, वह दिया जाता है।

(क) प्रथम तर्क तो डा० जोली के मत से ही कट जाता है। उनका कहना है कि ऐसी कथा प्रचलित रही होगी कि

कौटिल्य राजनीति-शास्त्र के उत्पादक तथा लेखक थे। जैन ग्रंथादि में भी ऐसी कथा पाई जाती है। नंदि-सूत्र में कौटिल्य के शास्त्र को असत्य कहा गया है; अतः कौटिल्य का लेखक होना सिद्ध है।

(ख) जब तक मेगास्थनीज का सारा ग्रंथ नहीं मिलता, तब तक यह नहीं माना जा सकता कि मेगास्थनीज ने कौटिल्य के संबंध में क्या लिखा है।

(ग) पतंजलि ने कौटिल्य का नाम नहीं लिया है; इस कारण से कौटिल्य के अस्तित्व में संदेह नहीं किया जा सकता। पतंजलि ने बिंदुसार, अशोक, राधागुप्त और बुद्ध इत्यादि का भी नामोल्लेख नहीं किया है। अतः यह कोई नहीं कह सकता कि इन लोगों का अस्तित्व था ही नहीं।

(घ) नाम का रखा जाना माता पिता पर अवलंबित होता है। नाम से पिंड छुड़ाना कठिन कार्य है और कोई बुद्धिमान् आदमी अपने अभद्र नाम को बदलने की फिक्र नहीं करता। कौटिल्य गोत्र था। परंतु ऐसा नाम क्यों रखा गया, इसके उत्तरदायी कौटिल्य के पिता पितामह थे। केवल इस नाम के कारण ही उस पुरुष के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

(च) पंडितों की तरह लिखने के कारण कौटिल्य, जो राजनीतिक नेता था, इस ग्रंथ का लेखक नहीं हो सकता,

यह तर्क भी अग्राह्य है। क्योंकि उसी प्रकार से ग्रंथ लिखने की विधि इस देश में प्रचलित थी। कौटिल्य भी प्रचलित विधि के विरुद्ध न जा सके। अतः उन्होंने भी उसी विधि से ग्रंथ-रचना की।

इन उपर्युक्त तर्कों के द्वारा श्रीजायसवाल ने डा० जोली के मतों का खंडन करने की चेष्टा की है। अब यह कार्य बुद्धिमान् पाठकों पर ही छोड़ दिया जाता है कि वे इसकी विवेचना करें कि कौन सा मत ग्राह्य है और कौन सा अग्राह्य।

परिशिष्ट (ख)

मौर्य्य काल की मुख्य मुख्य घटनाएँ और उनकी तिथियाँ

मौर्यकाल की मुख्य घटनाओं की तिथियाँ दे देना आवश्यक समझा गया। पर इन तिथियों के संबंध में भी विद्वानों में परस्पर बड़ा मत-भेद है। यदि प्रत्येक तिथि के संबंध में भिन्न भिन्न विद्वानों के मतों का संकलन किया जाय तो एक स्वतंत्र ग्रंथ निर्मित हो सकता है। परंतु विस्तार-भय से तथा अनावश्यक समझकर उन सबका उल्लेख न कर केवल कुछ मुख्य घटनाओं की तिथियाँ दे दी जाती हैं और ये ही तिथियाँ भारतीय इतिहास में मौर्य काल के लिये अधिकतर मान्य हैं।

ईसा के पूर्व ३२१ से २९७ तक मौर्य साम्राज्य-संस्थापक सम्राट् चंद्रगुप्त का समय माना जाता है।

चंद्रगुप्त के राज्यारोहण का काल जैन शास्त्रों में जैन ग्रंथकारों ने ईसा के ३१३ वर्ष पूर्व माना है।

ईसा के ३०० वर्ष पूर्व चंद्रगुप्त की सभा में मेगास्थनीज का आना माना जाता है।

ईसा के पूर्व २७४ से २३७ तक अशोक का राज्य-काल था। अशोक के राज्याभिषेक और उसके राज्यासन पर आसीन होने की तिथियों में कितना भेद था और ये तिथियाँ

ठीक ठीक कौन सी हैं, इस पर बड़ा मत-भेद है। परंतु अधिकतर लोग यही मानते हैं कि अशोक के राज्यासन पर बैठने की तिथि अधिक से अधिक ईसा से २७४ वर्ष पूर्व थी। उसके राज्याभिषेक के लिये ईसा से २७० वर्ष पूर्व की तिथि मानी जाती है।

अशोक के जीवन में कलिंग-विजय की घटना बड़ी ही महत्वपूर्ण है। उसकी तिथि ईसा से २६२ वर्ष पूर्व की निश्चित की जाती है।

अशोक के समय में पाटलिपुत्र में बौद्धों की एक सभा हुई थी। उसकी तिथि ईसा से २५३ वर्ष पूर्व मानी जाती है।

अशोक की मृत्यु की तिथि ईसा से २३७ या २३६ वर्ष पूर्व है। संक्षेप में मौर्य काल की घटनाओं की ये ही मुख्य तिथियाँ हैं।